नागवंश की उत्पत्ति एक ऐतिहासिक अध्ययन

कन्हैया लाल धुर्वे,सहायक प्राध्यापक (इतिहास), शासकीय निवास महाविद्यालय, मण्डला, म.प्र.

सारांशः—प्राचीनकाल से ही भारत में नागों की पूजा की परम्परा रही है। माना जाता है कि 3000 ईसा पूर्व आर्य काल में भारत में नागवंशियों के कबीले रहा करते थे, जो सर्प पूजा करते थे, उनके देवता सर्प थे। यही कारण था कि प्रमुख नाग वंशों के नाम पर ही जमीन पर रेंगने वाले नागों के नाम पड़े थे। पुराणों के अनुसार कश्मीर में कश्यप ऋषि की पत्नी 'कद्रू' से उन्हें आठ पुत्र मिले थे जिनसे नाग वंश का विस्तार हुआ था। नागों की उत्पत्ति एवं विकास के संदर्भ में विद्वानों में भिन्नताएँ देखने को मिलती है। भारतीय इतिहास एवं प्राचीन भारतीय ग्रंथों के अध्ययन से जो जानकारी प्राप्त होती है। वह कोई निश्चित कालखण्डों का निरूपण नहीं करती है, नाग भारत की मूलनिवासी जातियाँ है या आर्यों से ही उत्पन्न कोई जाति समूह है। जिनका दमन आर्यों द्वारा किया गया और जिन्हें अनार्य, दास एवं दस्सू शब्दों से सम्बोधित कर उन्हें विविध प्रकार की यंत्रणाएँ दी गई थी तथा कालान्तर में जिन्हें अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति में ढकेल दिया गया।

खोज शब्द : नागवंश, नागवंश की आर्यों से उत्पत्ति, नागवंश की अनार्यों से उत्पत्ति

प्रस्तावनाः—मानव की उत्पत्ति का प्रथम चरण यद्यपि किसी 'जाति' या 'वर्ग' में विभक्त न था, किन्तु डॉ0 अवन्तिका प्रसाद मरमट ने यह उल्लेखित किया है कि विश्व धरातल पर अवतरित मानव का प्रथम साक्षात्कार चूँकि नागों से हुआ, अतः प्रथम चरण के मनुष्यों को 'नाग जाति' का नाम दे दिया गया।[1] इसके पीछे कारण उनका नागों से सर्वाधिक प्रभावित होना बताया है। यही कारण था कि उनके नाम, उपनाम, निवास आदि नागों के नामों से मेल खाते हैं। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि मानव की प्रथम प्रजाति को यदि 'नाग जाति' माने तो अनुचित प्रतीत नहीं होता। आगे चलकर यह 'नाग जाति' भारतीय भू—भाग में आर्य एवं अनार्य के रूप में विभाजित होकर विकसित होती गई। चूँकि आर्य बाहर से आकर भारतीय भू—भागों में बसे, अतः उन्होंने स्वयं को आर्य (श्रेष्ठ) तथा यहाँ के मूल निवासियों को 'अनार्य' (अश्रेष्ठ) कहना शुरू किया।[2] इस प्रकार मानव प्रजाति का वर्ग विभाजन यहीं से उदित हुआ। अपनी जातीय श्रेष्ठता को बनाए रखने के स्वार्थ के कारण अपने आपको आर्य कहने वालों ने भारतीय जनों को अनार्य कहा और उनका संबंध नाग जाति से जोड़ा। जबकि वे यह भूल गए कि उनका भी उदय 'नाग जाति' से ही हुआ था। पुराणों के अध्ययन से यह संकेत मिलते हैं कि 'नाग जाति' का विस्तार फीजी द्वीप, मैक्सिको आदि तक था। धर्मशास्त्रों ने इनको 'नागलोक' अथवा 'पाताल लोक' कहकर उल्लेखित किया है। विद्वानों के मतानुसार नागवंश की उत्पत्ति के दो सिद्धान्त दृष्टिगोचर होते हैं।[3]

अध्ययन के उद्देश्यः—धार्मिक वांगमय में नागवंश की उत्पत्ति राजा 'शेषनाग' से बताई जाती है। इस वंश के गंगाधर, महिपाल, पुरन्दर, नागादेर, वेणुधर, योजनावीर्य, दामोदर, नागनन, कार्तवीर्य आदि अनेक राजा हुए। बाल्मीकि रामायण में भी शेष नाग और वासुकि राजाओं का वर्णन आता है।[4] महाभारत के आदि पर्व के तीसरे अध्याय में नागों का वर्णन है। महाभारत काल में ये गंगा—यमुना के बीच कुरुक्षेत्र और दिल्ली के आसपास खाण्डव वन में बसते थे। इस वंश के एक राजा के पास अट्ठाइस हजार आठ सौ सैनिकों का वर्णन मिलता है, जब अर्जुन ने खाण्डव वन को जला दिया तब से ये पाण्डवों के शत्रु बन गए। इन्होंने अर्जुन को मारने के बड़े—बड़े यत्न किए, किन्तु हर बार अर्जुन बचता ही रहा। महाभारत के युद्ध में वर्णन आता है कि एक नाग कर्ण के सहायक के रूप में युद्धभूमि में सदा उसके साथ रहता था। वह बार—बार कर्ण से कहता कि इस जहरीले तीर से अर्जुन को मारो, किन्तु कर्ण ने उसकी बात न मानी और नाग राजकुमार की इच्छा पूर्ण न हो सकी। नागों ने अर्जुन के पौत्र परीक्षित को मारकर अपना बदला लिया था। परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने नागों का दमन किया और

अहिच्छत्रपुर, नागपुर, नागौर, नागही, यशपुर (जहानुपुर) सफीरों (हरियाणा) आदि इनके मुख्य केन्द्रों को नष्ट–भ्रष्ट किया। जिससे नाग सत्ताच्युत होकर इधर–उधर बिखर गए।

अनार्यो से उत्पत्तिः– नागवंश की उत्पत्ति अनार्यो से हुई इस सिद्धांत के प्रतिपादकों में डॉ0 मरमट प्रमुख हैं। उनके शोध ग्रंथ 'वेदकालीन नाग जातियों, राजाओं तथा संस्कृति की खोज' के अध्ययन से पता चलता है कि मानव सभ्यता का प्रथम चरण मनुष्यों एवं सर्पों के मध्य निकट सम्बन्ध रखने वाला था। सम्भवतः मनुष्य को अपने चारों ओर फैले नाग समूहों से उठते–बैठते, खाते–सोते, काम करते हर वक्त जूझना पड़ा। उन्हें सर्पों से भय भी लगता था औरकुछ अंशों में सुरक्षा भी। इस कारण उन्होंने सर्पों को अपना इष्ट देव स्वीकार किया तथा उनके आधार पर अपने नाम, उपनाम, क्षेत्रों के नाम भाषिक शब्द इत्यादि रखने शुरू किए। न केवल भारत वरन् विश्व के अनेक भू–भागों में जहाँ–तहाँ मानव सभ्यता थी, सर्वत्र नागों व मनुष्यों के बीच संबंध रहे। इसलिए सर्पों की दुनिया का प्रभाव मानव जगत पर भी पड़ा। इस आधार पर कहा जा सकता है कि विश्व मानवता की जातिगत उत्पत्ति नाग संज्ञा से हुई।[5] भारतीय भू–भाग के अन्तर्गत् सिंधु घाटी सभ्यता के अध्ययन से यह पता चलता है कि वहाँ के निवासी नाग पूजक थे। संभवतः इन नागपूजकों का वर्ग आगे चलकर 'नागजाति' के रूप में मान्य हुआ, परन्तु सिंधु युग में जाति व्यवस्था का कोई साक्ष्य नहीं मिलता है।[6] सिर्फ वर्ग विभाजन श्रमजीवी, योद्धा और व्यवसायियों के रूप में दृष्टिगत् होता है।

आर्यो से उत्पत्तिः–आर्यों के भारत आगमन के बाद आर्य–द्रविड़ संघर्ष में जो लोग बचे वे निश्चित ही सांस्कृतिक दृष्टिकोण से मिश्रित होकर भावी सभ्यता को विकसित कर रहे थे।[7] ऐसी स्थिति में सिन्धु युगीन नागों का स्वरूप परिवर्तित होकर आर्ययुगीन सांस्कृतिक विकास धारा में विलीन हो गया। कर्नल जेम्स टॉड के अनुसार– 'नागवंश क्षत्रियों का ही एक वंश था'। डॉ0 काशी प्रसाद जायसवाल ने भी इस मत का समर्थन किया है, चूँकि वर्णों की उत्पत्ति के सिद्धांत के अनुसार जाति व्यवस्था की उत्पत्ति हुई। इस आधार पर क्षत्र धारण करने वाला वर्ग समूह क्षत्रिय नामक संज्ञा से विभूषित हुआ। अर्थात देश की सुरक्षा के लिए और शासन संचालन के लिए जिसने दायित्व निभाया वह क्षत्रिय कहलाया। इस आधार पर नागवंशियों ने राजा और सामंतों के रूप में कार्य किया। अस्तु, वे क्षत्रिय कहे जाने लगे।[8]

निष्कर्षः– प्रागैतिहासिक काल से ही मानव व नाग (सर्प प्राणी) साथ–साथ रहते चले आए हैं। सभ्यता के विकास के दौरान आखेट से आगे बढ़कर मानव ने कृषि कार्य को अंगीकार किया। समय के अन्तराल के साथ–साथ जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती चली गई। श्री एच0जी0 वेल्स का मत है कि आज से 8000 वर्ष से लेकर 20,000 वर्ष पूर्व के बीच लोगों को इस बात की आवश्यकता पड़ी कि उनके साथ अन्य नाम (उपनाम या उपाधि) जुड़ जाए ताकि दूसरे लोगों से उनको पृथक रूप से मान्यता मिल जाए। मानव के सामाजिक विकास के इस प्रथम चरण में सर्प ही इतना व्यापक स्तर पर मानव का पड़ोसी तथा कृषि हित कारक के रूप में पाया गया कि मनुष्य ने अपने उपनाम या उपाधि हेतु सर्प नाम को उपयुक्त मानकर उसे अंगीकार कर लिया।

मानव के पूर्व जीव जन्तु पृथ्वी पर करोड़ों वर्ष से रह रहे हैं परन्तु एक विशेषता ही कही जाएगी कि सर्पो का आकर्षण सारे संसार में फैला पाकर मानव जाति ने इसे अपने इष्ट देव या पूर्वज के रूप में या कुल देवता के रूप में स्वीकार किया है। भारत के मूल निवासी राजाओं ने ऋग्वेद के पूर्व और उसके बाद अपने नामकरण अपनी जातियों के नामकरण, सर्प देवता के नाम पर रखे और यही क्रम निरन्तर भारत के आधुनिक शूद्र जातियों में और उनके गोत्रों में मिल रहा है। भारत में नाग राजाओं का राज्य हजारों वर्षों तक रहा है। आर्यो की कूटनीति के कारण और वर्ण व्यवस्था की ऊँच–नीच भावना के कारण दलित जातियों का राजनैतिक व सामाजिक शोषण हुआ परन्तु संस्कृति को न आर्य बिगाड़ सके न अन्य अक्रान्ता।

SRF National & International Research Journal & Book Publication House, 320, Sewa path, Sangeevni Nagar, Garha, Jabalpur (M.P.)
Email Id:ijssmsjbp@gmail.com, srfjbp@gmail.com, www.srfresearchjournal.comPhone- 0761-4036611, Mo. 9993332299

संदर्भ–

1. डॉ. अवन्तिका प्रसाद मरमट – नाग संस्कृति, उज्जैन 2000,
2. डॉ. अवन्तिका प्रसाद मरमट – नाग संस्कृति, उज्जैन, 2000
3. चित्रा आम्रवंशी – नागवंश, पृ. 3–4
4. बाल्मीकि रामायण, गीता प्रेस गोरखपुर
5. विमलेश्वर सिंह – नागवंश, पृ. 20
6. श्री महन्त अमस्या – नागवंश और उनकी संस्कृति, पृ. 14
7. प्रो. हरीश चन्द्र उपाध्याय – संस्कृति और सभ्यता, फैजावाद, 1970, पृ. 13
8. श्री डी.पी. दुबे – समाज, इलाहाबाद, पृ. 8, साक्षात्कार द्वारा नागवंश तथा अन्य जातियों के उद्‌गम पर रोचक जानकारी प्राप्त हुई।

''सामाजिक सरोकार के संदर्भ में व्यंग्य का वर्तमान परिदृश्य''

डॉ. (श्रीमति) रूचि अर्जुनवार

मुख्य शब्द :– व्यंग्यालम्बन, विकृतियाँ, यथार्थ, कुरीतियाँ, सरोकार, चिंतन–मनन

सारांश :– साहित्य का समाज से घनिष्ट संबंध हैं। समाज के बिना साहित्य की और साहित्य के बिना स्वस्थ समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। समाज मानव को सही अर्थो में मानव बनाता हैं और इसे श्रेष्ठ मूल्यों से जोड़कर श्रेष्ठ मानव की संज्ञा प्रदान करता हैं। इस बात से सर्वथा मुहँ नहीं मोड़ा जा सकता कि जीवन के सत्यों को साहित्य में सफल अभिव्यक्ति देने के लिए व्यंग्य से अधिक सार्थक माध्यम दूसरा कोई नहीं हो सकता। यह बात अवश्य हैं कि विसंगतियों, विडम्बनाओं के कारण साहित्य में व्यंग्य का स्वरूप उजागर हो पाता हैं।

प्रस्तावना :–

साहित्य समाज का दर्पण माना जाता हैं इसलिए व्यंग्य का संबंध बहुत गहरा हैं। व्यंग्य समाज और व्यक्ति से जुड़ा सोद्देश्य लेखन है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दोनों रूप से सामाजिक सुधार की आकांक्षा एवं उद्देश्य को केन्द्रित कर लिखा जाता हैं। व्यंग्य का जन्म करूणा से होता हैं और व्यंग्य सदा के लिए किए जा रहे गलत कार्यो का विरोध करता हैं। इसमें वह शक्ति होती हैं कि पाठक अपने आसपास के प्रति जागरूक हो जाता एवं जिसे व्यंग्यालम्बन बनाया जा रहा हैं। वह तिलमिला उठता हैं।

विज्ञान, राजनीति, अर्थ आदि समाज के अंग बन गए हैं और इन्हीं को समझना तथा जीवन में इनका दुरूपयोग करना ही व्यक्ति के जीवन का मुख्य उद्देश्य हैं इस आपाधापी तथा व्यस्तता भरे जीवन में मनोरंजन की भी आवश्यकता हैं। व्यंग्य इसकी भरपाई करता हैं। साथ–साथ समाज में फैली विकृति पर प्रहार कर अच्छाई के लिए दिशा–निर्देश भी देता हैं।

व्यंग्य व्यक्तिपरक न होकर स्थिति परक होता हैं। व्यंग्य लेखन केवल बौद्धिक विलास नहीं हैं, बल्कि व्यंग्य वर्तमान के प्रति समर्पित लेखन हैं किन्तु यह एक अलग पहलू हैं कि व्यंग्य लेखन सामायिक परिस्थितियों, विसंगतियों से जूझने वाला लेखन कार्य है। यह लेखन समाज में सुधार लाने का, कुरीतियों व त्रुटिपूर्ण मान्यता को जड़मूल से नष्ट करने का प्रबल आकांक्षी होता हैं। व्यंग्य लेखन का मूल उद्देश्य एक आदर्श स्वच्छ तथा स्वस्थ्य समाज की संरचना करना हैं। व्यंग्यकार समाज में फैली विद्रूपताओं से चिंतित होता हैं। नारियों की शिक्षा में वृद्धि हुई हैं। उन्हें कार्यालयों में नौकरियों के सुअवसर प्राप्त हुए हैं किन्तु क्या समाज में नारी को स्वच्छ या नैतिक दृष्टि से देखा जाता हैं, नहीं। तभी तो परसाई जी ने लिखा हैं– ''बिन माँ की जवान लड़की उस फसल की तरह हैं, जिसका रखवाला नहीं हैं और जिसे वासना के उजाडू पशु मारने को स्वतंत्र हैं।''1

इस प्रकार अनेक सामाजिक मान्यताएँ जो समाज में विष के समान फैली हैं, कई नवयुवक इसे तोड़ना चाहते हैं, तो समाज उसे हेय दृष्टि से देखता हैं। डॉ. घनश्याम अग्रवाल ने व्यंग्यकार तथा समाज के संबंध में अपना मत व्यक्त किया हैं– '' व्यंग्य समाज के अभावों, उसकी बुराईयों पर अपने बाण चलाने लगा, क्योंकि वह नैतिकता का दावेदार हैं। व्यंग्यकार समाज की गंदगी को दूर करने का ठेका लेकर चलता हैं। जो बात साहित्य की अनेक शैलियों में नहीं कही जा सकती हैं, व्यंग्य शैली उसके लिए अमोध अस्त्र हैं।''2

व्यंग्य शोषण विहीन समाज की संरचना करने के लिए कृत संकल्प हैं। वह शोषण और शोषित के मध्य दीवार को मिटा देना चाहता हैं। आज हमारे समाज की स्थिति का लेखा–जोखा व्यंग्यकार लतीफ घोंघी के शब्दों में दृष्टव्य हैं– '' जरा आँख खोलकर देखिए आज 50 रूपये तनख्वाह पाने वाला व्यक्ति दो सौ रूपये की घड़ी बाँधकर घूमता हैं। सेठों के गोदामों में चूहे अनाज खा रहे हैं और गरीब जनता दाने–दाने को तरस रही हैं।''3 ऐसी कितनी ही विसंगतियाँ समाज में

SRF National & International Research Journal & Book Publication House, 320, Sewa path, Sangeevni Nagar, Garha, Jabalpur (M.P.)
Email Id:ijssmsjbp@gmail.com, srfjbp@gmail.com, www.srfresearchjournal.comPhone- 0761-4036611, Mo. 9993332299

फैली हैं। समाज में कुछ अच्छा बुरा घटित हो रहा हैं, उसका यथार्थ चित्रण व्यंग्य ही करता हैं उस अच्छे और बुरे से बुरे की ओर उसका आक्रोश व्यक्ति ही होता हैं और बुरे के स्थान पर हमें क्या सुधार करना हैं, या उसे किस रूप में स्वीकार करना हैं, इसका स्पष्ट संकेत व्यंग्यकार प्रेम शंकर व्यंग्य–विविधा में अपनी लेखनी के माध्यम् से व्यक्त करते हैं– '' व्यंग्य की सामाजिकता उसे सांमती हास्य विनोद से अलगाती हैं, और उसे सामाजिक यथार्थ से जोड़ती हैं। यथार्थ को यह पकड़ जितनी गहरी होगी, व्यंग्य उतना ही प्रभावी होगा क्योंकि कई बार हम उसे ऊपर–ऊपर ही छूकर रह जाते हैं।''4

व्यंग्यकार शहरी और ग्रामीण के संबंध पर नजर रखे हैं, वे इस अंतर से भी चिंतित रहते हैं। व्यंग्यकार अपने आसपास के प्रति सतत् विचारवान् रहता हैं। उसके समाज, प्रांत, देश में क्या हो रहा हैं, उसे कैसा होना चाहिए, कैसा नहीं, इस पर तीक्ष्ण दृष्टि रखता हैं व रचना में उसे लिखता हैं– '' वास्तव में व्यंग्य समाज की शक्ति–मंथन में ही लगी रहती हैं। व्यंग्यकार विचार करता हैं और चीजों, व्यक्तियों एवं स्थितियों से ऐसे बिन्दु निकालकर उन्हें व्यंग्य में व्यक्त करता हैं, जो मौजूद हैं, मगर जिन्हें होना नहीं चाहिए, या जो नहीं हैं, मगर होना चाहिए।''5

व्यवस्था चाहे वह सामाजिक हो या राजनैतिक व्यवस्था में रहकर व्यवस्था का विरोध करना, हर किसी के बस की बात नहीं हैं, परन्तु व्यंग्यकार इस कार्य को भी कुशलता के साथ करता हैं। गिरीश पंकज जी की रचना ' मिठलबरा की आत्मकथा ' इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। इस व्यंग्य उपन्यास में उन्होंने पत्रकारिता जगत् में फैली हुई समस्त विकृतियों, विसंगतियों को जितनी सरलता से प्रस्तुत किया हैं, उतना अन्यत्र कहीं दिखाई नहीं देता हैं। जबकि गिरीश पंकज जी स्वयं एक पत्रकार हैं। छोटे शहर की मानसिकता, उसके मध्य पैसे के लिए अपने प्रभुत्व के लिए पूंजीपतियों का सारी नैतिकता को दरकिनार करके अपने स्वार्थ की पूर्ति करना, उपन्यास के पन्नों को एक ऐसा आईना बना देता हैं, जिसमें इस इक्कीसवीं सदीं की दशा को स्पष्ट देखा जा सकता हैं। लेखक जो स्वयं उपन्यास के नायक भी हैं, अपने अखबार के बारे में स्पष्ट करते हैं कि – ''सरायपुर टाइम्स को ' कसाईबाड़ा ' कहते हुए अब मुझे तनिक भी अफसोस नहीं हैं। कसाई मालिकों के यहाँ नौकरी करके में खुद भी कसाई बन गया था।''6

व्यंग्यकार कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी यथाशक्ति की आलोचना व भर्त्सना करने से पीछे नहीं हटता हैं। यह जानते हुए भी कि उस दुस्साहस का भयंकर परिणाम हो सकता है। व्यंग्यकार किसी पूर्वाग्रह से आबद्ध नहीं होता हैं। व्यंग्यकार के संबंध में डॉ. नामवर सिंह की अग्रलिखित टिप्पणी अत्यंत सटीक लगती हैं– '' स्वयं नंगा होकर घूमने में सुख हो सकता हैं, लेकिन सवाल तो सम्राट का नंगा कहने का हैं। खासतौर पर ऐसे समय जबकि सभी लोग उसे एकदम नंगा देखते हुए भी किसी अनजान डर से ऐसा नहीं कह पाते हो।''7

व्यंग्य का सहकारी स्वरूप और उसकी सर्वग्राह्यता–शक्ति सबसे अधिक आकर्षित करती हैं। व्यंग्य का प्रयोग आज चेतना, शैली और विद्या तीनों रूपों में हो रहा हैं, यही इसकी शक्ति हैं। चिंतन से व्यंग्य में गंभीरता आती हैं और आक्रोश से उसकी प्रहारक शक्ति बलवती बनती हैं तथा करूणा से व्यंग्य में मानवीयता का गुण उत्पन्न होता हैं। व्यंग्य का यह त्रिशूल अपने में सृजनकारी और संहारक दोनों ही हैं– '' व्यंग्य में ही सत्य कहने और गलत का विरोध करने की शक्ति हैं। व्यंग्य ही शोषण और अन्याय के खिलाफ संघर्ष की मानसिकता तैयार करता हैं। यही सामाजिक सरोकार व्यंग्य को प्राणवान और गतिशील बना रहा हैं। साहित्य की प्रत्येक विधा के साथ व्यंग्य का सहकारी स्वरूप स्पष्ट ही हैं। जैसे निबंध–व्यंग्य, एकांकी–व्यंग्य, हास्य–व्यंग्य, कविता–व्यंग्य, कथा–व्यंग्य आदि।''8

आज का आदमी बड़ी जल्दी में हैं। वह सब कुछ भुलाकर दुनिया पर छा जाना चाहता हैं। इसके लिए वह सभी तरह से छल, बल और अक्ल का प्रयोग करते हुए वह गली मोहल्ले से लेकर संसद तक इसी के सहारे जा पहुँचता हैं, जहाँ उसके सारे हथकंडे और सारे पाखण्ड़ अनौपचारिक बन जाते हैं। तब तक अपने रास्ते पर वह बहुत आगे बढ़ चुका होता हैं। सच बोलने में उसकी जबान लड़खड़ाने लगती हैं और झूठ वह बिना झिझके बोल लेता हैं रही सहकारिता– वह तो

उसके अस्त्र–शस्त्र के रूप में इस्तेमाल करता हैं। इन्ही सब छल–छद्म के कारण राजनेता सबसे अधिक व्यंग्य का शिकार होते हैं।

सहकारिता बहुरूपा होकर समाज के कण–कण में व्याप्त हैं ठीक भ्रष्टाचार की तरह। प्रजातंत्र के इस लूटतंत्र में हिस्सेदारी करने के लिए सहकारिता एक दाँव की तरह हैं जो शालीनता के साथ चलाया जाता हैं। इस राजनीति और इन राजनेताओं ने भ्रष्टाचार की चपेट में लेने के लिए किसी को भी नहीं छोड़ा हैं। इसलिए आज के व्यंग्यकार को जहाँ–जहाँ भी विसंगतियाँ और कुरीतियाँ दिखाई दे रही हैं उन पर व्यंग्य करने से नहीं चूक रहा हैं। आज के व्यंग्यकार की भूमिका एक देशभक्त और समाज सेवी की भूमिका बन गई हैं।

आज की स्थिति ऐसी हैं कि जिधर भी दृष्टि डालते हैं चारों तरफ संकट के बादल गहराते नजर आ रहे हैं। देश प्रतिपल–प्रतिक्षण संकट के मकड़जाल में उलझता जा रहा हैं। देश की अधिकांश जनता हताश और निराश हैं। ऐसी दशा में जबकि सत्ता के शीर्ष पर बैठे महानायक सत्तालोलुपता और स्वार्थ सिद्धि में लिप्त हैं। ऐसा सुदर्शन चक्र चलाया जा रहा हैं जिसमें विकास का ही शिरोच्छेदन हो रहा हैं। सेवा और बलिदान के नाम पर ढोंग रचाए जा रहे हैं। सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रदूषण के जनक जनतांत्रिक व्यवस्था की जड़े हिला रहे हैं। जरूरत इस बात की हैं कि सभी व्यंग्यकार सामूहिक चिंतन की प्रक्रिया को तेज करें ताकि एक सकारात्मक पहल की शुरूआत हो सकें।

'' जो कुछ आज हो रहा हैं इन खतरों की ओर हमारे पूर्व के व्यंग्यकारों ने काफी संकेत किए हैं तथा इन संकेतों के लिए उन्हें प्रताड़ना के दंश भी झेलने पड़े हैं। अगर इस ओर एक सकारात्मक पहल की गई होती तो यह स्थिति पैदा ही नहीं हुई होती। जो भी हो इस स्थिति पर अकुंश लगाने के लिए प्रयास जारी रखना ही होगा। अन्यथा देश राष्ट्रवाद की तूफानी लहर पर सवार हो फासिज्म की गोद में चला जाएगा।''9

व्यंग्य का सामाजिक जीवन के साथ गहरा संबंध होता हैं। इसके संदर्भ में शंकर पुणताँम्बेकर का यह कथन दृष्टव्य हैं– '' व्यंग्य आसपास के कूड़े–कचरे को कच्चे माल के रूप में इस्तेमाल करता हैं। कचरा जितना यथार्थ, उतना वह व्यंग्य के लिए आदर्श हैं।''10

व्यंग्य के पीछे मनुष्य हैं, मनुष्य का जीवन हैं। उसकी कमजोरी, दुर्बलता आदि विद्यमान हैं। इतना ही नहीं, व्यंग्य के पीछे परिवेशगत विषमताएँ, विद्रुपताएँ हैं, जिनके कारण खंडित तथा टूटे हुए लोगों की, जो वास्तव में नष्ट होने योग्य नहीं है, उनकी व्यंग्य रचनाएँ आदमी की सफलता, असफलता, नैतिकता और अनैतिकता के दस्तावेज हैं। रामनारायण उपाध्याय लिखते हैं– '' व्यंग्य वही कर सकता हैं जिसके दिमाग में एक स्वस्थ समाज के निर्माण का नक्शा होता हैं। वह जब अपनी कल्पना से समाज का निर्माण होते नहीं देखता तो तिलमिलाहट से भर उठता हैं। उसकी इस मनःस्थिति से व्यंग्य का जन्म होता हैं।''11

इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता हैं साहित्य समाज का दर्पण हैं, इसलिए आज के सामाजिक जीवन की सही तस्वीर आज के व्यंग्य साहित्य में स्पष्ट देखी जा सकती हैं। व्यंग्यकार आज के विद्रुपताओं, विसंगतियों की गहराई में पहुँचकर, उसकी टीस को ग्रहण करता हैं। व्यंग्यकार को व्यक्ति और समाज में केवल कमजोरियाँ एवं बुराईयाँ ही दिखाई देती हैं, अच्छाईयाँ, दिखाई नहीं देती। यह कुछ हद तक सही भी हैं। व्यंग्यकार एक चिकित्सक के समान हैं, जो मरीज के रोग, कीटाणुओं या सड़े हुए अंगों का इलाज करता हैं। अच्छे अंगों को वह स्पर्श नहीं करता। व्यंग्य की दृष्टि भी इसी तरह की होती हैं।

वास्तव में व्यंग्य ही वह तत्व हैं जो समाज सुधारक बनता हैं। व्यंग्य सोचने पर विवश करता हैं। श्रेष्ठतर स्थिति पर जाने की चेतना जगाता हैं। यही सामाजिक सरोकार भी हैं। समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, बेईमानी, अर्थसत्य, सुविधाभोगीवादिता, कर्त्तव्य के प्रति अवहेलना, संबंधो का मृतप्राय होना, हिंसक प्रकृतियों का उभरना, संस्कृति का अपसंस्कृत होना, सभ्यता का असभ्य परिभाषित होना आदि से व्याप्त विडम्बनाओं, विद्रुपताओं, विसंगतियों, असंगतियों का विवेचन, चितन–मनन गवेषण रचनाकार का मुख्य सामाजिक उद्देश्य सरोकार हो गया हैं।

संदर्भ सूची :–

1. हरिशंकर परसाई–तट की खोज पृ.सं. 02
2. डॉ. घनश्याम अग्रवाल–आधुनिक श्रेष्ठ व्यंग्य, पृ.सं. 01
3. लतीफ घोंघी–उड़ते उल्लू के पंख, पृ. सं. 51
4. प्रेमशंकर–व्यंग्य विविधाएँ व्यंग्य विधा, पृ.सं. 02
5. डॉ. शेरजंग गर्ग–व्यंग्य के मूलभूत प्रश्न, पृ.सं. 107
6. गिरीश पंकज–मिठलबरा की आत्मकथा, पृ.सं. 10
7. डॉ. नामवर सिंह–ज्ञानोदय, जनवरी–1986, पृ.सं. 16
8. व्यंग्य विधा का सहकारी एवं कारगर स्वरूप–सहकार संचय, जनवरी–फरवरी 1999
9. अरविंद विद्रोही–विदूषक, अप्रैल–सितंबर 1996, पृ.सं. 08
10. डॉ. शंकर पुणताँम्बेकर–प्रकर, मार्च 1984, पृ.सं. 25
11. हास्य व्यंग्य,–सामाजिक सरोकार–व्यंग्य विविधाएँ, दिसम्बर 1996, फरवरी 1997, पृ.सं. 59।

छुआछूत के आविर्भाव का समाजशास्त्री अध्ययन

जितेन्द्र कुमार चौधरी
म.नं. 2050 रांझी पुरानी बस्ती, झण्डा चौक, जबलपुर (म.प्र.)

सारांश :–भारतीय समाज में छुआछूत का व्यवहार बहुत पुराना है। इसकी जड़े इतनी गहरी हैं कि बुद्ध से लेकर गांधी तक अनेक लोगों ने इसके निवारण के लिए समय–समय पर प्रयास किया। किन्तु यह किसी न किसी रूप में समाज में बनी रही।[1] प्रस्तुत शोध–प्रपत्र में छुआछूत के व्यवहार के सामाजिक जीवन में प्रचलन के प्रारंभ को खोजने का प्रयास किया गया है। सामाजिक आधार पर व्यवहार के दोहरे मानदण्ड आज जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आसानी से देखे जा सकते हैं। शहरों में छुआछूत व सामाजिक भेदभाव बहुत सीमति है, किंतु गांवों में कमावेश आज भी बना हुआ है।[2] छुआछात का रोग क्यों और कैसे पैदा हुआ, इन कारणों की निशानदेही अनेक लेखकों ने की है किन्तु डॉ. भीम राव अंबेडकर ने अछूतपन की उत्पत्ति का गोवध तथा गो–मांसाहार–निषेध से सीधा संबंध बताया है।[3]

मुख्यशब्द : छुआछूत, कृषि संक्रिया, समाज का खंण्डीकरण, जातीय क्रम–परम्परा, पवित्रता–अपवित्रता।

प्रस्तावना :– जातीय आधार पर छुआछूत के आविर्भाव का इतिहास जटिल है[4] इसकी उत्पत्ति के विषय में स्पष्टता एवं आम सहमति का नितान्त अभाव हैं। जबकि कुछ इसकी उत्पत्ति देश में कृषि प्रधान सभ्यता के विकास को मानते हैं तथा ऐसी सभ्यता में कृषीय जातियों के अभ्युदय का कारण यह था कि कृषि संक्रिया के लिय हाथ से काम करने वाले कर्मकारों तक सुनिश्चित पहुंच बनी रहे।[5] कुछ इसकी उत्पत्ति भारतीय सभ्यता की विस्तारवादी प्रावस्था से जोड़ते हैं, जिसके कारण आर्यो ने मूल निवासियों पर न केवल विजय प्राप्त की अपितु इसी के परिणामस्वरूप दासता में भी जकड़ दिया। ऋग्वेदिक युग के अन्तिम चरण में सामाजिक अवस्था में ये 'शूद्र' वही दास है जिन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता था और इसका सम्बंध उनके उस समुदाय में जन्म से होता था।[6]

इसके उदय की व्याख्या चाहे कुछ भी रही हो संस्थानिक ढांचे, जो समाज में सामाजिक आचरण को निर्देशित करते रहे हैं 'जाति व्यवस्था' की नाम पद्धति के अंर्तगत सन्निविष्ट हैं। मोटे तौर पर यह हिन्दू आबादी को सीधे–सीधे चार मुख्य वर्गो में बाँटने की व्यवस्था का अभिवेदन है, जिन्हें वर्ण के नाम से जाना गया है। इस व्यवस्था के शिखर पर हैं ब्राम्हण (पुजारी वर्ग) तथा अवरोही क्रम में क्षत्रिय (योद्धा वर्ग) और वैश्य (व्यापारी एवं हस्तशिल्पी वर्ग) शूद्र (मेहनतकश मजदूर तथा सेवारत वर्ग) व्यवस्था में निम्न दर्जे पर थे। अस्पृथ्यों का इस योजना में कोई हिस्सा नहीं था। फिर भी समय के अन्तराल के साथ–साथ स्थिति की तात्कालिक आवश्यकता के रहते इस वर्गीकरण में पांचवां वर्ग भी आ जुड़ा जिसे वैसे तो कोई भी जातीय हैसियत नहीं दी गई परन्तु सामाजिक परम्परा में यही वर्ग पूरक कड़ी अवश्य हुआ और इसका उल्लेख अस्पृश्य या 'जाति बहिष्कृतों' के रूप में हुआ।

इस वर्ग की सदस्यता जन्म से निर्धारित होती थी और इसे वैयक्तिक प्रयास या सामाजिक मान्यता होने पर परिवर्तित नहीं किया जा सकता था। ये चारों वर्ण तत्पश्चात् सैंकड़ों उप–जातियों में विभक्त हो गए जिन्हें 'जाति' कहा जाता है और हर जाति के सामाजिक आचरण के अपने ही प्रतिमानक (मानदण्ड) हैं। इस जातीय ढांचे के छह विशिष्ट लक्षण है:–[7]

1. समाज का खण्डीकरण;
2. क्रम–परम्परा (सामाजिक);
3. खानपान तथा सामाजिक मेलजोल पर प्रतिबंध,

4. व्यवसाय में अप्रतिबन्धित चयन की कमी;

5. नगरिक तथा धार्मिक असमर्थताएं तथा भिन्न–भिन्न श्रेणियों में विशेषाधिकार तथा

6. विवाह पर प्रतिबंध;

समाज का चार समूहों में खण्डीकरण ऐसी अभेद्य व्यवस्था का द्योतक है जिसमें प्रतिष्ठा और व्यवसाय दोनों ही एक दूसरे के साथ श्रेणीबद्ध नाते से जुड़े हुए हैं। इस पदनुक्रमिक व्यवस्था में ब्राह्मण का स्थान सबसे ऊंचा एवं अस्पृश्यों का स्थान सबसे नीचा है। यह **जातीय क्रम–परम्परा** 'शुचिता' एवं 'अशुचिता' की अवधारणाओं के इर्द–गिर्द घूमती है।

उद्देश्य :– छुआछूत की उत्पत्ति के कारणों को जानना एवं सामाजिक जीवन में इसके व्यवहार में प्रचलन की स्थिति ज्ञात करना।

अस्पृश्यों को अद्यमतम गिना जाता है क्योंकि वे अपवित्र कार्य करते है। खानपान तथा सामाजिक नातों पर प्रतिबंध हर जाति के लिए आचार संहिता को समावेशित किए हैं कि वह क्या देख सकते हैं, क्या नही देख सकते। क्या छू सकते हैं, क्या नहीं छू सकते, दूसरी जाति के लोगों से क्या स्वीकार कर सकते हैं, क्या स्वीकार नहीं कर सकते। व्यवस्था पर प्रतिबन्ध का मन्तव्य है कि किसी भी तरह से क्रम–परम्परा को डगमगाने से बचाया जा सके।[8]

सिविल और धार्मिक निर्योग्यताओं के अधिदेशानुसार अस्पृश्य मुख्य गांव से दूरी पर ही बसें, गांव के कुएं से पानी न खींचे, गांव के मन्दिर में दाखिल न हों, जनेऊ धारण न करें, शिक्षा प्राप्त न करें तथा धार्मिक ग्रंथों का पाठ न करें। अस्पृश्यों से अपेक्षित था कि वे सबसे अधिक गंदे धंधे जैसे कि गंदगी, जिसमें मानव मल भी शामिल था, की सकाई, मृत जानवरों की खालें उधेड़ने तथा कब्रें खोदने का कार्य सम्मिलित था। जाति से बाहर ही नहीं, वास्तव में उप–जातियों से भी बाहर विवाह का पूर्ण निषेध सुनिश्चित करता है कि एक समुदाय से दूसरे समुदाय में गतिशीलता न हो। परिणामतः अस्पृश्यों को सभी मामलों मे सम्पूर्ण पृथकता का सामना करना पड़ता है, उग्र भेदभाव का शिकार होना पड़ता है, निम्न से निम्न कार्य करने पड़ते हैं और उन्हें कोई अधिकार नहीं कि वे अपनी स्थिति में कोई परिवर्तन कर सकें।

जातीय असमर्थताओं और अत्याचारों के प्रवर्तन का संक्रमणकाल तीसरी और चौथी ईस्वी में खोजा गया है। इस युग में वर्ण–व्यवस्था के समक्ष विचलन का संकट गहराया जबकि निर्धारित सामाजिक व्यवहार को अनुशासित और सीमा में रखने के लिए जोर जबरदस्ती की आवश्यकता पड़ी। 'राजा' इस व्यवस्था को मर्यादा में रखने वाले के रूप में सामने आया। जो भी इस व्यवस्था का उल्लंघन करते उन्हें धर्मनिरपेक्ष (सैकुलरी) दण्ड तो दिया ही जाता था, साथ ही धार्मिक अनुष्ठानों द्वारा प्रायश्चित भी करना पड़ता था। इसी तरह ऊंची जाति के लोगों द्वारा नीची जाति के लोगों पर शारीरिक हिंसा को पावनता का दर्जा प्राप्त हुआ। यह स्थिति सदियों तक बनी रही।[9]

इस तरह दमन से पीड़ित समुदाय ने इस प्रबन्ध को चुपचाप स्वीकार कर लिया क्योंकि इससे बचाव का और कोई विकल्प ही नहीं था। सम्भवतः उन्हें यह विश्वास करने पर बाध्य ही कर दिया गया था कि अगर वह वर्तमान अनुशासन का पालन करेगें तो अगले जन्म में सुधार संभव होगा।

प्रमाण :–

अस्पृश्यता के पीछे अपवित्रता का विचार है। पवितत्रा के विचार के संदर्भ में धुर्ये (1968:216) ने कहा है ''800 ई.पू. न केवल घृणित व पतित 'चांडालों' में, बल्कि समाज की चतुर्थ व्यवस्था शूद्रों में सांस्कारिक पवित्रता एवं इसका कार्य रूप प्रचलन में था।''

''**हट्टन** (Caste in India 1961:207) का विचार है कि बाह्म जातियों की स्थिति का जन्म थोड़ा प्रजातीय, थोड़ा धार्मिक तथा कुछ सामाजिक रिवाजों का प्रतिफल है।

अम्बेडकर की मान्यता है (1948) कि जब अशुद्ध एक वर्ग के रूप में 'धर्म सूत्रों' के काल में अस्तित्व में आया तब अस्पृश्य वर्ग400 ए.डी. के काफी बाद में उत्पन्न हुआ। अंबेडकर ने आगे भी कहा हैः ''यदि मानव विज्ञान ऐसा विज्ञान है जिस पर लोगों की प्रजाति निर्धारण के लिए निर्भर किया जा सकता है तब तो हिंदू समाज के विविध स्तरों

SRF National & International Research Journal & Book Publication House, 320, Sewa path, Sangeevni Nagar, Garha, Jabalpur (M.P.)
Email Id:ijssmsjbp@gmail.com, srfjbp@gmail.com, www.srfresearchjournal.comPhone- 0761-4036611, Mo. 9993332299

पर मानवमिति का अनुप्रयोग यह असिद्ध करता है कि अस्पृश्य व्यक्ति आर्य एवं द्रविड़ प्रजातियों से भिन्न प्रजाति के सदस्य थे। ब्राह्मण और शूद्र एक ही प्रजाति से संबद्ध हैं।

अम्बेडकर के अनुसार गोमांसहार ही 'अछूतपन' के मूल में निहित है, यदि हम गो–मांसाहार निषेध को अपने चिंतन की आधार–शिला बनाए तो इसका यह मतलब होता है कि 'अछूतपन' की उत्पत्ति का गो वध तथा गो–मांसाहार–निषेध से सीधा संबंध होना चाहिए, यदि हम यह बता सकें कि गोवध किस समय एक अपराध बना गो–मांसाहार किस समय पाप बना तो हम 'अछूतपन' की उत्पत्ति की एक ऐसी तिथि निश्चित कर सकते हैं, जो लगभग ठीक हो। गो–वध कब एक अपराध घोषित किया गया? हम जानते हैं कि मनु ने न तो गो–मांसाहार का निषेध किया और न गो–वध को ही एक अपराध ठहराया। यह अपराध कब बना? जैसा कि–

डॉ. डी.आर. भण्डारकर ने स्पष्ट किया है, चौथी ई. में किसी समय गुप्त–नरेशों द्वारा गो–वध प्राण दण्डनीय अपराध घोषित हुआ। इसलिए हम कुछ विश्वास के साथ यह कह सकते हैं कि अछूतपन 400 ई. के आस–पास किसी समय पैदा हुआ, यह बौद्ध धर्म और ब्राम्हण धर्म के संघर्ष में से पैदा हुआ है। इस संघर्ष ने भारत के इतिहास को पूरी तरह बदल दिया है।[11]

निष्कर्ष : मनुस्मृति के ज्ञात समय को हम आधार मानते हुए इस निष्कर्ष को इस तरह प्रस्तुत कर सकते है।

पूर्व मनुस्मृति युग :–में अस्पृश्यता स्थायी एवं वंशानुगत नहीं थी केवल सामयिक दिखाई देती थी पूर्व मनुस्मृति युग में आज जैसी अस्पृश्यता का विकास नहीं हो पाया था।

मनुस्मृति युग:– मनु के समय में जाति व्यावस्था ब्राह्मणों की सर्वोच्चता और निम्न जातियों एवं शूद्रो पर अयोग्यताएं थी लेकिन अस्पृश्यता नहीं थी।

उत्तर मनुस्मृति युग:– उत्तर मनुस्मृति युग अस्पृश्यता का साक्षी है चीनी यात्री फाह्यान (399–414 ई.) ह्वेनसांग (629 ई.) इन दोनों यात्रियों के वृतान्त से स्पष्ट होता है कि लगभग 400 ई. के आस–पास अस्पृश्यता की उत्पत्ति हो चुकी थी एवं यह एक संस्था के रुप में समाज में अपना स्थान बना चुकी थी।

मध्ययुग :– मध्ययुग में महत्वपूर्ण सूचना अलबरुनी के यात्रा वृतान्त से मिलती है जिसने 1007 से 1033 ई. के मध्य भारत का भ्रमण किया। इस समय सम्पूर्ण भारत में अस्पृश्यता व्यवहार में आ चुकी थी। मुस्लिम युग में जाति व्यवस्था तथा अस्पृश्यता के प्रति मुस्लिम सम्राटों के विपरीत रवैये के कारण जाति व्यवस्था अत्याधिक कठोर हो गई एवं अस्पृश्यता समाज में गहराई से व्याप्त होती चली गई।

संदर्भ :–

1. सिंह राम गोपाल (1986), भारतीय दलितः समस्याएँ एवं समाधान, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, बनगंगा भोपाल (म.प्र.), पृ. 134
2. वही. पृ. 100
3. बाली, एल.आर. (2006), नही मिटेगी छुआछात, भीम पत्रिका, ई.एस. 393ए, आबादपुरा, जालधंर, पृ. 03
4. नावल, टी.आर. (2000) अनुसूचित जाति एवं जनजाति (अत्याचार निवारण) काननू पृ. 4–7
5. कृष्णन पी.एस, अनुसूचित जाति एवं जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम 1989 को लागू करने के लिए जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में 22–23 मार्च 2000 का राष्ट्रीय सम्मेलन में दिया गया भाषण।
6. नावल टी.आर., वही. पृष्ठ 4
7. घोर्वे, जी.एस., 21 शताब्दी में दलितों के लिए एक नया पाठ्यक्रम, भोपाल घोषणा पत्र पृष्ठ 16–17
8. भोपाल घोषणा पत्र पृष्ठ 16

9. नावल, टी.आर., वही. पृष्ठ 10

10. आहूजा राम (2012), भारतीय सामाजिक व्यवस्था, रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली पृ. 320–321

11. बाली, एल.आर. (2006), नही मिटेगी छुआछात, भीम पत्रिका, ई.एस. 393ए, आबादपुरा, जालधंर, पृ. 03–04

12. आहूजा राम (2012), भारतीय सामाजिक व्यवस्था, रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली पृ. 05–07

Behavioral responses of puntiusticto on exposure to detergent effluents: An Overview

Dr. Varsha Jain, Department of zoology
Govt. M.H. College of Home Science and science for Women, Jabalpur (M.P.)

ABSTRACT: The population of puntiusticto was exposed to lethal and sub lethal concentration of detergent effluents to allow behavioral changes to be observed. The swimmingbehavior and alteration in swimming pattern were recorded. The abnormal behaviors in puntiustitcto were characterized by hyper activities, erratic swimming, and frequent surfacing followed by sinking. The behavioral responses increased and were observed in the control treatment of the bioassay tests. Some workers have studied behavioral alteration of fish due to exposure of surfactants and detergents.There observation includes abnormal swimming behavior, loss of equilibrium and avoidance behavior.
KEY WORDS- Behavioral, Sub lethal Responses, Swimming Behavior and bioassay.

INTRODUCTION :

Fish are grown for commercial purpose to meet the dire need of animal protein need of humans. Most of the industrial waste discharged into the environment contains organic and inorganic pollutant dissolved in insoluble forms. The ability of the pollutant to disturb the biological balance or cause deleterious effect on the aquatic ecosystem is dependent on the concentration of detergent. Various human activities like washing of clothes with detergent and soaps, bathing etc. are also a reason for water pollution.

MATERIAL AND TECHNIQUES :

Standard techniques were used for physic-chemical analysis of diluent water and behavioral study.

TEST FISH - The fresh water teleost *Puntiusticto* was used for the present study.

The fish were netted using small meshed cast net and were brought to laboratory in plastic pool. The fish were acclimatized under laboratory conditions for seven days before experiments. Fishes measuring 3.5 to 5.0 cm in length were used for the experiments. Only healthy and active fishes were used for the study.

The detergent 'Henko' manufactured by Henkl SPIC India Ltd. Chennai was used as toxicants. 'Henko' contain Linear Alkyl benzene sulphonic acid (LABS) as active ingredient.

RESULTS AND DISCUSSION:

Many other workers have also reported the presence and concentration of detergent in water receiving municipal effluents (Fischer,1980; Sivak et al.,1982). As water bodies are the ultimate sink for the toxic chemicals used in house hold products including detergents. The toxic chemicals and other pollutants especially detergent cause marked changes in the swimming behavior of fish. These includes hyper activity, erratic swimming, jerky movements and loss of equilibrium (Tiwari.,1995).

BEHAVIOURAL STUDY :

In lower concentration of detergent fishes exhibited hyper-activity with frequent to and fro swimming movements in the aquaria for initial 1 hr, later the swimming activity was reduced, however, the fish increases its surface visits. The hyper swimming activity was increased with increase in the concentration of the detergent. It appeared that fish became restless initial and later it came to the surface of aquaria. In lethal concentration above 5mg/l the initial phase of hyper-activity was followed by gradual loss of equilibrium and erratic swimming. Ultimately the fish lied down on the bottom laterally with very slow opercular movements. Under this condition, on tapping the aquaria or by touching the fish by glass rod, the fish responded with jerky movements towards surface, then dropping down to the water.

AVOIDANCE BEHAVIOR:

The avoidance behavior of the fish Puntiusticto was studied with the help of test vessel in which detergent dilutions were added from one end and

fresh water from the other end. The test vessel was marked in three zones: Zone 'A'-toxicant zone, zone-'B'-middle zone and zone 'C'-toxicant free or fresh water zone. Number of visits and time spent in each zone was recorded for a duration of one hour in seven concentration of the detergent. The result are presented in the table below.

RESULT OF AVOIDANCE BEHAVIOR TEST CONDUCTED WITH DETERGENT "HENKO" INDICATING TIME SPENT AND NO. OF VISITS MADE BY FISH IN DIFFERENT ZONE OF TEST VESSEL.

Conl. Mg./l	Time spent in three zones(seconds)					
	Toxicant zone 'A'		Middle zone 'B'		Clear Water Zone 'C'	
	Time Spent	No. of Visits	Time Spent	No. of Visits	Time Spent	No .of Visits
0.2	2120	09	250	08	1230	06
0.3	1066	36	1295	66	1239	48
0.4	863	16	1210	52	1522	37
0.5	188	04	652	12	2760	10
1.0	75	05	265	14	3260	08
5.0	100	08	386	16	3114	07
10.00	46	02	352	31	3202	23

Some workers have studied behavioral alteration of fish due to exposure of surfactants and detergents. Their observation included abnormal swimming behavior, loss of equilibrium and avoidance behavior.(Sprague and Mclease,; Lewis, 1991; Pulla Rao and Mishra, 1998a,). As far as these observations are concerned, the author agrees with these workers that surfactants and detergents cause marked behavioral response in fish in the form of hyper-activity, surfacing, and erratic swimming, loss of equilibrium and avoidance behavior.

CONCLUSIONS :

The detergent forms toxic component of domestic effluent and is highly toxic to fish. The toxicity of detergent depends on its active ingredient and other additives. In India detailed product information is not given on the detergent packing. It is suggested that it should be made mandatory to provide detailed product information and its toxicity to fish on the packing of detergents.

REFERENCES :

1. Fischer, W.K. (1980) Entwicklung der tensidkonzentrationen in den deutschenGewassen. Tenside Deter., 17 : 250-261.
2. Lewis, M.A. (1991) Chronic and sub lethal toxicants of surfactants to aquatic animals : A Review and risk assessment. Water Res. 25(1) : 101-113
3. Sivak, M., Goyer, M., Perwak, J. and Thayer, P. (1982) Environmental and human health aspects of commercially important surfactants. In solutions behavior of surfactants. (K.Mittal and E. Fendler, Eds.) Vol.1, Plenum, New York.
4. Tiwari, C. (1995) Laboratory monitoring of fungicide toxicity of fresh water fish PuntiusTictio : A thesis submitted for the degree of doctor of philosophy in zoology. Barkatullah University, Bhopal (M.P.) India.
5. Pulla Rao, U.D.V.P. and Mishra, K.D. (1998a) Acute toxicity of LABS containing detergent 'Shudh' to juvenile (fingerlings) stage of indian major carp, Labeorohita. Ind. J. of Environmental Sciences 2(2) : (In press).

भारत में औद्योगिक वित्त के लिए अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएँ

डॉ0 किरण सिंह,
अतिथि विद्वान, अर्थशास्त्र, शासकीय श्याम सुंदर अग्रवाल महाविद्यालय, सिहोरा, जबलपुर (म0प्र0)

शोध सार – प्रस्तुत शोध पत्र में भारत मे औद्योगिक वित्त के लिए अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की भूमिका महत्तवपूर्ण रही है। इन संस्थाओं के माध्यम से विकास के नये आयाम सम्भव हो सके। इन संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य विकासशील देशो को सहायता देने का है। भारत मे औद्योगिक निवेश की गति बहुत धीमी थी। अतएव इन संस्थाओं के माध्यम से सामाजिक पूँजी का निर्माण किया जा सके। इन संस्थाओं ने विकासशील देशो मे आर्थिक विकास को बढ़ाने के लिए प्रत्यक्ष ऋण को प्रोत्साहित किया। साथ ही वित्तीय सहायता के अतिरिक्त उद्योगो की स्थापना , विस्तार एवं कुशल संचालन हेतु तकनीकी प्रबंधकीय परामर्श भी ये संस्थाएँ प्रदान करती है।

पुर्ननिर्माण और विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक –यह अंतः सरकारी संस्था है जिसका स्वरूप निगमीय है, और जिसकी पूँजी सर्वथा इसके सदस्य सरकारो द्वारा जुटाई जाती है। अतः वे ही इसकी पूँजी के स्वामी होते है जो भी सरकार इसके चार्टर को मानती और अपना लेती है वह इसकी सदस्यता की पात्रता रखती है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य बनने के लिए विश्व बैंक की सदस्यता अनिवार्य शर्त है। इसके संगठन मे बोर्ड ऑफ गवर्नर,कार्यपालन संचालक, एक अध्यक्ष और बैंक स्टॉफ होता है। बैंक के सभी अधिकार बोर्ड ऑफ गवर्नर मे निहित होता है। प्रत्येक सदस्य एक मतदाता गवर्नर की नियुक्ति करता है और सामान्यतः वह उसका वित्तमंत्री ही होता है। इनकी अवधि 5 वर्ष होती है, किन्तु इसके पूर्व भी इन्हे बदला जा सकता है। कार्यपाल गवर्नरो की संख्या वर्तमान मे अठारह है जिनमे से पाँच की नियुक्ति प्रथम पाँच सर्वाधिक स्कंधधारियो द्वारा नियुक्त और शेष तेरह बाकी के सदस्यों द्वारा चुने जाते हैं। ये ही बैंक के सामान्य कामकाज के लिए उत्तरदायी रहते है। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र के 250 मत होते है इसके अतिरिक्त प्रत्येक एक लाख डॉलर के अंशदान पर एक अतिरिक्त वोट या मत प्राप्त होता है।

पूँजी संसाधन – बैंक के पूँजी संसाधन उस समूची पूँजी से निर्मित होते हैं जो सदस्य सरकारो द्वारा प्रदत्त राशि तथा ऋण बंधो और अन्तर्राष्ट्रीय वित्त बाजारों द्वारा बनते है। जिसमे लन्दन और न्यूयॉर्क शमिल है। इस पूँजी में सदस्य देशों द्वारा खरीदे गये ऋण बंधो की राशि भी सम्मिलित है। सन् 1959 मे प्राधिकृत पूँजी 21 विलियन करोड़ डॉलर के बाद बन्द कर दी गई और इस राशि तक ही सीमित रखा गया।

व्यावसायिक कारोबार – बैंक द्वारा प्रत्यक्ष या सीधे तौर पर ऋण या गारंटी दी जा सकती है जो निजी निवेशकों द्वारा उपलब्ध कराया जाता है । इस बैंक से साख सुविधाएँ सदस्य सरकारो को सहज उपलब्ध है और यह सुविधा देशों की वित्तीय संस्थाओं तथा निजी उपक्रमो को भी प्राप्त है। व शर्ते इन्हें शासकीय गारंटी या देश की आर्थिक नीति तथा वित्तीय स्थिरता का अध्ययन भी विश्व बैंक द्वारा किया जाता है। इसके संविदा नियमो मे प्रावधान किया गया है कि ऋणों की स्वीकृति विशिष्ट परियोजना के लिए अथवा विकास और पुनर्निर्माण के लिए दी जावे तथापि कुछ विशेष परिस्थितियो मे ये ऋण अन्य उद्देश्यों के लिए भी दिये जा सकते हैं। बैंक अपनी एक नीति के बतौर किसी भी सदस्य देश को उसकी परियोजनाओ की आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु ऋण देना अधिक पसन्द करता है और ऋण कर्ता से अपेक्षा रखता है कि वह भी अपनी और से कुछ साधन जुटावे ताकि परियोजना की वित्त व्यवस्था सुचारू रूप से की जा सके विश्व बैंक सामान्यतः मध्यम या दीर्धविधि के लिये ऋण प्रदान करता है। टाटा लौह–इस्पात कम्पनी को दिए गए ऋण पन्द्रह वर्षीय अवधि के है जबकि एयर इंडिया इंटरनेशनल कार्पोरेशन को दिए गए ऋण की अवधि नौ वर्ष रही है। इसी प्रकार

SRF National & International Research Journal & Book Publication House, 320, Sewa path, Sangeevni Nagar, Garha, Jabalpur (M.P.)
Email Id:ijssmsjbp@gmail.com, srfjbp@gmail.com, www.srfresearchjournal.comPhone- 0761-4036611, Mo. 9993332299

बैंक द्वारा ब्याज दर में ऋण की अवधि के अनुसार अलग–अलग स्तर पर रहती है। अपेक्षाकृत लम्बी अवधि के ऋणो पर ब्याज दर कुछ अधिक रहती है। पर ब्याज दर घट बढ़ की प्रवृति रखती है। बाजार दर के परिपेक्ष्य मे उधारी की लागत पर इस दर मे घटने बढ़ने की प्रवृत्ति होती रहती है। यह ब्याज दर ऋण कर्ताओ मे भेदभाव नहीं करती और इस परिपेक्ष्य मे वह सभी के लिए समान रहती है। इसके अतिरिक्त विश्व बैंक द्वारा सभी ऋणो पर एक प्रतिशत वार्षिक कमीशन वसूला जाता है ताकि इससे अपनी देयताओं के अनुरूप रिजर्व कोष का निर्माण किया जा सके।

विश्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय निवेश की समग्र आवश्यकताओ की पूर्ति नहीं कर सकता किन्तु इसके द्वारा दिया गया निर्देश उद्योगो के विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। अर्द्ध विकसित देशों को प्रदत्त वित्तीय सहायता से उनके विकास की सम्भावनाएँ बढ़ी है और प्रगति पथ प्रशस्त हुआ है। वित्तीय सुविधाओ के अतिरिक्त बैंक ने सदस्य सरकारो को तकनीकी सहायता भी उपलब्ध कराई है जो ऋणों से संबंधित प्रक्रिया, प्राथमिकताओ के निर्धारण अनुसार विभिन्न परियोजना के क्रियान्वयन से सिद्ध हुई है बैंक के द्वारा वित्तीय सहायता प्राप्त परियोजना मे वह नजर रखता है और समय–समय पर स्थल निरीक्षण तथा सावधि प्रतिवेदन प्राप्त करता है।

भारत और विश्व बैंक –स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत के प्रारंभिक आर्थिक विकास मे विश्व बैंक की महत्वपूर्ण भूमिका रही है भारत विश्व बैक के प्रारम्भिक सदस्यो मे जो एक है। शुरू मे भारत का अभ्यंश 400 मिलियन डॉलर था एवं उनका नाम अधिकतम पूँजी वाले 5 देशों मे शामिल था जिससे भारत को विश्व बैंक मे एक स्थाई कार्यकारी संचालक नियुक्त करने का अधिकार मिला। भारत को जिन योजनाओं के लिए ऋण मिले है उनमे से मुख्य निम्न है–

- ❖ रेल व्यवस्था का नवीनीकरण एवं विस्तार।
- ❖ टाटा लौह एवं इस्पात तथा भारत लौह एवं इस्पात कम्पनी ।
- ❖ चम्बल घाटी क्षेत्र तथा राजस्थान नहर क्षेत्र का विकास ।
- ❖ दामोदर घाटी निगम विद्युत परियोजना।
- ❖ एयर इंडिया द्वारा हवाई जहाजों का क्रय।
- ❖ हल्दिया बन्दरगाह का निर्माण।
- ❖ विद्युत शक्ति विस्तार परियोजनाएँ।
- ❖ औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम की कार्यशील पूँजी मे वृद्धि ।
- ❖ कृषि विकास हेंतु ऋण।
- ❖ निजी क्षेत्र मे कोयला उद्योग के विकास हेतु ऋण
- ❖ ट्राम्बे थर्मल पावर स्टेशन की स्थापना हेतु ऋण।

भारत को 169 बार सामान्य ऋण और 250 बार विकास योजनाओं के लिए ऋण दिया गया विश्व बैंक ने भारत को आश्वासन दिया है कि वह भारत को संसाधन जुटाने हेतु सहायता करता रहेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम– विश्व बैंक को निजी उद्यम के लिए ऋण देते समय सम्बंधित सरकार की गारण्टी आवश्यक होती है किन्तु इसमे बैंक का कार्यक्षेत्र काफी सीमित हो जाता है। विश्व बैंक की दूसरी सीमा यह है कि वह केवल ऋण देता है, पूँजी के अंश नही खरीदता । अतः बैंक की संबंधित उद्योग मे अधिक रूचि नहीं रहती । इन कमियो को दूर करने के लिए जुलाई 1956 मे विश्व बैंक के सहायक के रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना हुई वित्त निगम निजी क्षेत्र को प्रत्यक्ष ऋण देकर विकासशील देशो मे आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करता है। इसके साथ ही निगम उत्पादक कम्पनियो मे इक्विटी विनियोग भी करता है।

निगम का मूलभूत उद्देश्य आर्थिक विकास सहज और संभव बनाने की दृष्टि से सदस्य देशो मे निजी उपक्रमो को विशेषता अर्द्धविकसित सदस्य देशों को सक्रिय सहायता और प्रोत्साहन देना है। यह निगम समाशोधन गृह के रूप मे निवेश के अवसरो, निजी पूँजी के बीच समन्वय स्थापित करता है वस्तुतः यह निजी पूँजी के साथ प्रतिस्पर्धा न करते हुए अनुपूर्ति का कार्य करती है। निगम अपनी और से विकासशील देशों की और निवेश बढ़ायेगा निरंतर बढ़ता जायेगा।

पूँजी संरचना– अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम विश्व बैंक की एक सम्बद्ध शाखा के रूप मे काम करती है। यद्यपि यह एक स्वतंत्र कानूनी संस्था है जो अपने चार्टर के अन्तर्गत प्राप्त अधिकारों के साथ कार्यरत है। इसके कोष विश्व बैक से सर्वथा अलग और भिन्न है। इसका समग्र प्रबंध एक संचालन मंडल मे निहित है। जिसमे विश्व बैंक के कार्य पालन संचालक सम्मिलित होते है। इस निगम को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह अपने ऋण बंधो और अन्य देयताओ की बिक्री के आधार पर ऋण ले सकता है।

अन्तर्राष्टोय वित्त निगम और भारत – भारत अन्य संस्थाओं की भांति वित्त निगम का सदस्य प्रारम्भिक काल मे ही बन गया था इसने निगम के समझौता पत्र पर 19 अक्टूबर 1955 को हस्ताक्षर कर दिये और प्रथम अधिकतम पूँजी वाले पाँच देशो मे से होने के कारण विश्व बैंक के प्रशासनिक संचालक मंडल मे भारत द्वारा मनोनीत व्यक्ति वित्त निगम मे भी भारत के स्थाई संचालक मान लिए गए।

वित्त निगम एक बहुपक्षीय संस्था है जो विकासशील देशों में उत्पादक निजी विनियोग को प्रोत्साहित करती है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु निगम 7 वर्ष से 12 वर्ष की परिपक्वता वाले दीर्घकालीन ऋण एवं जोखिम पूँजी व्यापारिक दरों पर देती है। इसी के अनुरूप वित्त निगम ने भारत मे दीर्घकालीन ऋणो का अनुमोदन किया है भारतीय अर्थव्यवस्था मे जुलाई 1991 मे विर्नियमन किए जाने के संदर्भ मे वित्त निगम की उत्पादक निजी विनियोग का संवर्धन करने विदेशी प्रत्यक्ष विनियोग को आकर्षित करने और अंतर्राष्ट्रीय पूँजी बाजार से संसधानो को जुटाने मे अधिक सक्रिय भूमिका का निर्वाह कर सकता है।

निगम ने 1994 मे जो पोर्टफोलियो विनियोग किये है उसमे 9.4%भारत मे किये इस दृष्टि से भारत की स्थिति सबसे ऊपर है। विकासशील देशों में भारत के पहले ही वित्त निगम के प्रतिभूति पोर्टफोलियो के सबसे अधिक शेयर है। भारत के उदारीकरण की नीति के पश्चात निगम को विनियोग के नये अवसर प्राप्त हुए है। भारत मे वित्त निगम के विनियोग मुख्य रूप से ऊर्जा, लौह एवं इस्पात ऑटोमोबाइल रसायन पेट्रो रसायन एवं सामान्य विनिर्माण उद्योगो में हुआ।

अंतर्राष्ट्रीय विकास परिषद– 1960 मे विश्व बैंक के अधीन एक सम्बंध संस्था के रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना की । विकासशील देशो को सहायता देने के लिए एक ऐसी संस्था की आवश्यकता है जो बहुत कम ब्याज पर दीर्घकालीन आर्थिक विकास के लिए सुलभ ऋण दे सके। विश्व बैंक ने पिछड़े देशो के लिए पूँजी तो उपलब्ध करवा रहा था किन्तु उसकी सीमा यह थी कि ब्याज की दर अधिक थी, वह पूँजी सामाजिक कार्यो के लिए नहीं थी। अतएव विकास परिषद की स्थापना का निर्णय अल्प विकसित देशों में सामाजिक पूँजी का निर्माण करने के लिए किया गया था विकास परिषद को विश्व बैक की **सुलभ ऋण खिड़की** कहा गया है क्योंकि परिषद से विकासशील देशो को दुर्लभ मुद्राएँ प्राप्त हो सकती हैं, तथा यह ऋण उन्ही मुद्राओ मे नही चुकाना पड़ता अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ द्वारा प्रयुक्त साधनो को साख का नाम दिया गया है ताकि उन्हे विश्व बैंक द्वारा प्रयुक्त ऋणो से पृथक समझ सके।

अंतर्राष्ट्रीय विकास परिषद का मूलभूत उद्देश्य अर्द्ध विकसित देशों को बहुत ही आसान एवं सुविधाजनक शर्तो पर विकास कार्यो के लिए वित्त की व्यवस्था करना ।

- ऋणों पर बहुत कम ब्याज लिया जाता है।
- ऋण लंबी अवधि के लिए दिये जाते हैं ।
- ऋणों का भुगतान ऋणी देश की मुद्रा में स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रकार यह संस्था विश्व बैंक के पुनर्निर्माण और विकास कार्य में सहायक बनकर उत्थान के प्रयासों को त्वरित गति प्रदान करने की भूमिका निभा सके। इस संस्था का उद्देश्य विश्व बैंक के तकनीकी ऋण पूर्ति के स्तरों को किसी प्रकार नीचे गिराना नहीं इसकी स्थापना करना है। इसके क्रिया कलापों से कई देशों को अपने भुगतान संतुलन को अनुकूल बनाने में मदद मिली ।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद को कम विकसित देशों में उच्च प्राथमिकता के साथ वित्तीय परियोजना की वित्त व्यवस्था करने के अधिकार

SRF National & International Research Journal & Book Publication House, 320, Sewa path, Sangeevni Nagar, Garha, Jabalpur (M.P.)
Email Id:ijssmsjbp@gmail.com, srfjbp@gmail.com, www.srfresearchjournal.comPhone- 0761-4036611, Mo. 9993332299

और उत्तरदायित्व सौंपे गये है। अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद गरीब देशों को बहुत आसान शर्तो पर ब्याज रहित ऋण देता है। विकास परिषद द्वारा दिये जाने वाले ऋण **'साख'** के रूप में जाने जाते हैं तथा इनकी छूट अवधि 10 वर्ष होती है। ऋणी देश की आर्थिक स्थिति के अनुसार 35 से 40 वर्ष की अवधि में इन्हें चुक्ता किया जाना चाहियें। विकास परिषद ने सर्वाधिक ऋण कृषि एवं ग्रामीण विकास के लिये दिये है।

परिषद के प्रस्तावित संसाधन के रूप में संग्रहित राशि 1000 मिलियन अमेंरिकी डॉलर में थी। बशर्ते परिषद के सदस्य राष्ट्र वे सभी देश हो जिन्होनें अपना अंशदान जमा कर दिया है। जो मोटे तौर पर बैंक को दिये गये अंशदान के बराबर था। अल्पविकसित राष्ट्रों की कठिनाई को कम करने के उददेश्य से इस संस्था के सदस्य राष्ट्रों को दो वर्गो में बाँटा गया। प्रथम वर्ग मे 17 देश थे जो आर्थिक विकास की दृष्टि से विकसित थें उन्हें कुल अंशदान का 76.3 प्रतिशत भाग देना था। दूसरे वर्ग में कम विकसित राष्ट्र थें जिनकी संख्या 51 थी। जिन्हें 23 प्रतिशत अंशदान करना था। जिससे उनकी हर स्थिति में सहायता हो सके।

भारत और अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद– भारत विकास संघ का प्रारभिक सदस्य हैं तथा उसे भाग 2 वाले देशों में रखा गया है। जहाँ तक विकास संघ से सहायता पाने का प्रश्न है भारत को उससे दोनो ही मामलों में अर्थात ऋणों की संख्या और ऋण की राशि सर्वाधिक ऋण मिले हैं भारत को दिये जाने वाले ऋण इन कार्यों के लिये दिये गयें हैं –राष्ट्रीय राजमार्ग का निर्माण, नलकूपों का निर्माण,जल निकासी परियोजनाएँ, ग्रामीण विद्युतीकरण इत्यादि। विकास परिषद ने भारत को पहली बार एक नये प्रकार का ऋण दिया जो किसी परियोजना के निर्माण के लिये नहीं था वरन् भारत के पूँजीगत उद्योगो के लियें ऐसे कल पुर्जो एवं आवश्यक साम्रगी के आयात के लिये था। जिससे उक्त पूँजीगत उद्योगों में पूरी उत्पादन क्षमता का प्रयोग किया जा सके। भारत को दिये जाने ऋणों की यह विशेषता रही है कि वे समाप्त न होने वाले सतत् प्रवाह के रूप में दियें गयें।

निष्कर्षतः कहा जा सकता हैं कि भारत के औद्योगिक निवेश में अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओ द्वारा समय–समय पर वित्त संबधी आवश्यकताओं की पूर्ति की गई। जिससे निश्चित समय मे विकास की गति को तीव्र किया जा सके। इस प्रकार भारत के औद्योगिक विकास में अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओ का योगदान सराहनीय रहा है।

संदर्भ ग्रंथ –

- सिंघई, एस..पी.एण्ड गम्भीर, टी.आर **''औद्योगिक अर्थशास्त्र''** (1974) पेज–356–360
- सक्सेना, एस.सी.**''भारत में निगम वित्त'',**1963, पेज 204
- डॉ.जी.सी.सिंघई **''मौद्रिक अर्थशास्त्र''** 1999,पेज 299, 308, 315
- नद्दा.एन.ए. **''कैपिटल मार्केट इन इंडिया''**1965
- डॉ. कुलश्रेष्ट,आर.एस **''निगमों का वित्तीय प्रबंध''** 461, 493
- मदान, बी.के. **''फाइनेन्स फॉर इंडस्ट्रियल डेव्लपमेन्ट''**1966.

Library Automatio

Sarita Khandare, Researcher

ABSTRACT : Library is a growing organism. The ancient and traditional methods of maintaining it are no longer dynamic and efficient, because of information technology (IT) information explosion in each and every field of knowledge. TO handle this expeditious growth of information we need some modern technique. A properly computerized library will help its users with quick and prompt services. The study also shows that as a result of automation the library is faster and efficient than before in operation.

INTRODUCION : Education develops manpower for different levels of the economy. The universe of knowledge is so vast that any library / information centre cannot afford to be passive in their approach to information retrieval. The information retrieval in the field of education is hampered by outdated methods of retrieval. All of the library functions tend to be operated manually. Lack of automated system burden librarian with task that is tedious and time consuming. He has very little free time to concentrate on serving educationist. In the light of these problems, there is only one way and that is establishment of a well- structured networked library/information system to provide information required by the reader, in the manner in which he wants and the place where it is required.

DEFINITION : The term library automation refers to the processing of certain routine clerical functions in the library with the assistance of computers and allied technologies.

ALA Glossary of library and information science defines automation as "the performance of an operation, a series of operations or process by self-activating, self controlled or automatic means.

Automation implies the use of automatic data processing equipment such as a computer or labour saving devices".

Kaul (1999) has given the growth of library automation can be better understood from the following table.

TABLE
Growth of Library Automation

Year	Developments
1940-1949	Semi-mechanical applications including edge- notched cards, optical coincidence, peek-a-book cards.
1952-1959	Use of punch cards, data processing equipments, early computers and micro image searching system.
1960-1969	Application of general purpose digital computers, feasibility studies of online interactive and advance micro image systems, experiments in library networking.
1970-1979	Design of online systems and conversion of batch systems into online mode, growth of library network and data bases.
1980-1989	Intensive use of online systems, networks, mini and micro computers optical disks, CD-ROMs, FAX etc.
1990s	Use of Internet and Library networks aims towards higher levels of computer application such as recording through electronic media, artificial intelligence, etc.

ADVANTAGES:

- Provides users with timely access to various library materials.
- Reduces the amount of time spent on material acquisition, serials, etc.
- Development of new patterns of communication among staffs, especially between computer services and library staff.
- Avoids duplication of cataloguing efforts.
- It motivates users equip them with problem solving and information retrieval and provides them with the life long learning experience.
- It increases productivity in terms of both work as well as in service.

OBJECTIVES:

- To provide access to information at a faster rate.
- To maintain bibliographical records of all the materials in a computerized form.
- To share the resources to library networking.
- To implement new IT process to provide high quality information.
- To reduce the repetition in the technical process of house keeping operations.

CONCLUSION:

So, in this way we are in conclusion that the terms of Library Automation we get benefit of technology. Library is a fast growing organism through knowledge explosion the tremendous growth of information in every field of knowledge; traditional library is not much capable to handle the vast amount of information. In that situation modern technology is much helpful and effective to manage and organize information according the need and requirement of different type of users. The future of this efforts make bright future of library.

REFERENCES:

- Nair, R. Raman (1995), Academic Library Automation, New Delhi: Ess Ess Publication.
- Kochar, R.K. and Sudarshan, (1997), K.N. Library Automation, New Delhi: APH Publishing Corporation.
- Borgman, C.L. (1999), What are digital libraries and competing visions. Information processing and management, 28-3, 227-243.
- Thapa, Neelam (2007), Slices of Library Automation, Agra: Y. K. Publisher.
- Tiwari, Purushottam (2011), International Encyclopedia of Library Automation. Vol. 2, New Delhi: A.P.H. Publishing Corporation.

DEVELOPMENT AND PROBLEMS OF WOMENENTREPRENEURSHIP IN INDIA

Dr. Akanksha Shukla
Professor & Head, Deptt. Of Commerce, Navyug Arts & Commerce College, Jabalpur.

Traditionally, women entrepreneurship in India have faced many problems in marketing products and owning properties. Considering the indigenous knowledge, skills, potential and resources to establish and manage enterprises, several schemes have been formulated and launched to encourage more and more women enterprises in the Small Scale Industries (MSI) sector by the Government of India which have been exclusively targeted at the development of both rural and urban women enterprises. The major schemes are as follows:

1. Trade Related Entrepreneurship Assistance and Development

Scheme for Women (TREAD):

The Government of India has implemented a scheme namely Trade Related Entrepreneurship Assistance and development Scheme for Women (TREAD) with a view to encourage women in setting up their own venture during the 11th Plan. The scheme comprises of economic empowerment of women through the development of their entrepreneurial skills in non-farm activities.

2. Micro and Small Enterprises Cluster Development Programme (MSE-CDP) :

a. Existing Cluster:

A cluster is defined as a group of enterprises , ideally having 100 members producing same/ similar /products/ services .However, in backward regions the target members could be 50 or less but it should be too small as a lot of is made per cluster. Government expenditure

b. Creating of Physical Infrastructure:

This scheme has been implemented by the Ministry to provide development sites with infrastructural facilities like power distribution network, power, telecommunications drainage and pollution control facilities, roads, exhibition/display centers, storage and marketing outlets etc.

1. Credit Guarantee Fund Scheme for Micro and Small Industries:

With a view to ensure better flow of credit to micro and small enterprises by minimizing the risk perception of finance in lending without collateral securety.The loan limit is up to Rs. 50 lac.

2. Support for Entrepreneurial and Managerial Development:

With the objective to encourage women entrepreneurs to participate in the international exhibitions, it has been decided to:

1. Provide rent free space (6x9 Sq Mts) in the exhibitions
2. Reimburse 100 per cent economy class air fare for one representative. The overall ceiling shall however, be Rs.1.2 lac.

Self-help groups (SHGs) are increasingly recognized as a valuable tool for the development of rural women. Finally, SGHs of rural women can impart technical knowledge, motivating other rural women to engage in micro-entrepreneurship. This helps in improving their capability, and adding to the family income and national productivity.

Problems of Women Entrepreneurs:

In business area women are facing many problems in India. Some of the problems identified are as follows:

1. Financial institutions consider women loonies as higher risk than man loonies and put un- realistic securities to sanction loan to women entrepreneurs.
2. The women entrepreneurs are suffering from inadequate financial resources and working capital.
3. The financial institutions discourage women entrepreneurs on the belief that they can at any time leave their business and become house wife again due to their family obligation.

SRF National & International Research Journal & Book Publication House, 320, Sewa path, Sangeevni Nagar, Garha, Jabalpur (M.P.)
Email Id:ijssmsjbp@gmail.com, srfjbp@gmail.com, www.srfresearchjournal.comPhone- 0761-4036611, Mo. 9993332299

4. Married women have to make a good balance between business and home. The interest of the family members is a determinant factor in the business of women.
5. And when they manage the business successfully especially in the area of marketing and sales.
6. The confidence to travel across the day and night and even different regions and state are less found in women compared to male entrepreneurs.
7. Lack of knowledge of the availability of raw materials and low level negation and bargaining skills are the important factors which affect the women business adversely.
8. Most of the women in India are ignorant of new technologies or unskilled in their use and some are illiterate hence can not be trained. All this enables them at low level in enterprises compared to males.
9. Another important factor affecting women to get in to business is low level risk taking attitude.
10. High production cost of some business operations adversely affect the development of women entrepreneurs.

Conclusion: The Government of India has implemented a number of entrepreneurship assistance for the both rural and urban women. The working of schemes is assessed timely and improvements are made so that more and more women could become entrepreneurs. Despite of low education, social barriers, poor financial status etc. in Indian women, the progress of investment of women entrepreneurs in business area is encouraging.

.

''महिला उत्पीड़न में परिवार परामर्श केन्द्र की भूमिका''

श्रीमति प्रतिभा शर्मा, शोधार्थी

प्रस्तावना : महिलाओं के विरूद्ध हिंसा एक विश्वव्यापी समस्या है और विश्व की समस्त संस्कृतियाँ एवं देश इस समस्या से ग्रसित है। 20वीं शताब्दी के अंतिम दशक में महिलाओं पर की जाने वाली हिंसा के प्रति समाज के दृष्टिकोण में अत्याधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है। इसका प्रमुख करण यह है कि जहाँ पहले महिलाओं के विरूद्ध की जाने वाली हिंसा की मूक स्वीकृति की शिकायतें दर्ज की जाती थी। महिलाओं पर बढ़ती हुई हिंसा को देखते हुए महिलाओं के हित में बनाए गए विभिन्न कानूनों के क्रियान्वयन रही है। पहरवार में होने वाले छोटे–मोटे, विवाद जिन्हें यदि समय पर नहीं सुलझाया जाये जो यह विवाद बढ़कर गंभीर रूप धारण कर लेते है परिणाम परिवार के विघटन के रूप में सामने आता है और प्रतिफल महिलाओं को विशेष रूप से भोगना पड़ता है। वैवाहिक विवाद को लम्बी कानूनी प्रक्रिया से सुलझाने में महिलाएं काफी कठिनाई का अनुभव करती है। इसे ध्यान में रखकर प्रदेश के लगभग सभी जिलों में परिवार परामर्श केन्द्र प्रांरभ किये गये है। पुलिस द्वारा तत्काल अपराध पंजीबद्ध कर लेने पर आपसी समझौते की गुंजाईश लगभग समाप्त हो जाती है। कटु घटनाक्रम परिवार की महिलाओं एवं बच्चों के लिये अत्यंत ही त्रासद स्थिति निर्मित करती है। पारिवारिक विवादों के न्यायालयों में लंबित प्रकरणों की संख्या वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का बदलता स्वरूप सिद्ध कर रहे है।

देश में पारिवारिक विवादों की संख्या बहुत तेजी से बढ़ी है। नरसिंहपुर शहर भी इससे अछूता नहीं रहा है। वैवाहिक जीवन की मधुरता कानूनों की कठोरता एवं न्यायालीन विधि प्रक्रिया में समाप्त होने लगी है। बड़ी मनोकाममना से आयी बहु की दहेज प्रताड़ना संबंधी शिकायत समस्त अरमान, कल्पनाएँ, सपने ध्वसत कर देती है। सास, ननद, भाभी आदि परिवार की महिलाएं भारतीय दण्ड संहिता के प्रावधानों का सामना करने विवश हो जाती है।

पुलिस का काम अपराधों पर नियंत्रण करना है परंतु परिवारिक विवादों की विवेचना, अभियोजन गिरफ्तारी में बहुत ज्यादा समय लगने से कार्य क्षमता प्रभावित हो जाती है। न्यायालयों में भी पारिवारिक विवादों संबंधी विचारधीन प्रकरणों में अपार वृद्धि हो रहा है। पुलिस परिवार परामर्श केन्द्र शीघ्र व प्रभावी न्याय सिद्धांतों के अनुरूप विचारधीन प्रकरणों में समझाता कराने अपना योगदान दे रहा है।

परिवार परामर्श केन्द्र नरसिंहपुर :–

नरसिंहपुर पुलिस परामर्श केन्द्र का समिति का पंजीयन 16/02/2000 रजिस्ट्री एवं फर्म सोसायटी जबलपुर मुं हुआ परिवार परामर्श केन्द्र नरसिंहपुर, कार्यालय पुलिस अधीक्षक, नरसिंहपुर के परिसर में संचालित हो रहा है। 50 प्रतिशत पत्नि पीड़ित पति आवेदक देते हैं। घरेलू हिंसा विधेयक में सिर्फ पीड़ित महिला को पात्रता है। परन्तु परामर्श केन्द्र में पीड़ित पति के आवेदन पर दूसरा पक्ष महिला की तकलीफें भी सुनी जा सकती है। इस प्रकार दोनों पक्षों की उपस्थिति सुनिश्चित हो जाती है। पत्नि आवेदन थाने से प्रस्तुत कर पाये उससे पूर्व पति आ जाता है। जिससे भयमुक्त वातावरण में दोनों पक्षों से विचार–विमर्श संभव हो जाता है। क्योंकि पत्नि के आवेदन पर पति डरकर थाने नहीं जाते, लापता हो जाते है। लगभग 30 प्रतिशत पति इस वर्ष गुम इंसान के रूप में दर्ज है। इससे महिला को ही पीड़ा का सामना करना पड़ता है।

न्यायायिक प्रक्रिया :–

अपील का प्रावधान होने के कारण न्याययिक प्रक्रिया अंतहीन है। महिला का भ्रम है कि उसके आवेदन पर ससुराल पक्ष नतमस्तक हो जाएगा। भारतीय न्याय व्यवस्था दोष मुक्त एवं अपना पक्ष प्रस्तुत करने पर्याप्त अवसरों की सुविधा उपलब्ध कराती है और अंत में कई वर्षों की न्याययिक

लड़ाई, अनावश्यक व्यय, कटु संबंधों, पारिवारिक, सुखद संबंधों के समाधान की दिशा में प्रयोग होता है। अतः वैवाहिक विवादों की प्रारंभिक बिन्दु पर परिवार परामर्श केन्द्र में विचार विमर्श हो जाने से कटुताओं, आर्थिक व्यय, दोषारोपण, परस्पर आरोप प्रत्यारोपों, विगत विवादों के उल्लेख आदि से मुक्ति मिल जाती है।

महिलाओं के विरूद्ध किये गये अपराधों की जिला स्थान 2013–14

क्र.	माह	प्राप्त आवेदन	समझौता	न्यायालय	अपराध पंजी	निरस्त
1.	जनवरी	16	8	4	2	2
2.	फरवरी	27	18	7	–	2
3.	मार्च	29	16	6	2	5
4.	अप्रैल	25	12	13	–	–
5.	मई	39	20	10	–	9
6.	जून	38	16	15	–	7
7.	जुलाई	27	16	10	–	1
8.	अगस्त	20	13	07	–	–

स्त्रोत :– परिवार परामर्श केन्द्र नरसिंहपुर से प्राप्त

परिवार परामर्श केन्द्र नरसिंहपुर में प्राप्त आवेदनों की वार्षिक स्थिति (वर्ष 2001–10 तक)

क्र.	वर्ष	प्राप्त आवेदन	समझौता	न्यायालय	अपराध पंजी.	निरस्त
1.	2001	362	261	60	34	7
2.	2002	297	174	60	50	13
3.	2003	119	60	20	39	–
4.	2004	292	135	107	46	4
5.	2005	300	150	80	54	16
6.	2006	256	161	97	92	6
7.	2007	448	198	129	116	5
8.	2008	504	202	102	192	8
9.	2009	456	177	100	174	5
10.	2010	463	323	96	39	5
		3597	**1841**	**851**	**836**	**62**

स्त्रोत – परिवार परामर्श केन्द्र नरसिंहपुर से प्राप्त

महिलाओं के लिए बड़ी कठिन है ये परिस्थितियाँ :– ये सच है कि जब कोई महिला अदालत की सीढ़ियाँ चढ़ने के लिए मजबूर होती है तो सामने उसका पति ससुराल या कोई निकट संबंधी ही होता है। जबकि घरेलु महिलाओं को न कानूनी दांव–पेंचों का पता होता है और न अदालतों की कार्यप्रणाली का किसी महिला के जीवन में जब ऐसी कोई विपत्ति आती है तो ज्यादातर मामलों में पति उसके साथ नहीं होता। ऐसे में बच्चों को साथ लेकर अदालत तक आना वकीलों से प्रकरण को लेकर जददोजहद करना फीस का इंतजाम अदालत में लगने वाले खर्चे का इंतजाम भागदौड़ सारा दिन अदालत में बिताना बच्चे साथ हो तो उनकों बहलाए रखना यदि बच्चों को घर में छोड़ा हो तो उनकी चिंता करना।

यदि कामकाजी हो तो वहाँ से छुट्टी

SRF National & International Research Journal & Book Publication House, 320, Sewa path, Sangeevni Nagar, Garha, Jabalpur (M.P.)
Email Id:ijssmsjbp@gmail.com, srfjbp@gmail.com, www.srfresearchjournal.comPhone- 0761-4036611, Mo. 9993332299

लेना। अंत में फिर एक नई तारीख के साथ वापस लोटना ये वो संत्रास है जो अदालत में चल रहे मामलों से अलग होते है। ये मानसिक पीड़ा अदालत में चल रहे मामलों से अलग होती है।

खटकता है जरूरतों का अभाव :–

महिला चाहे घरेलू हो या कामकाजी उसकी कुछ निर्धारित जरूरतें होती है। घर या दफ्तर में उसे इन जरूरतों का अभाव नहीं खटकता पर जब वो बाहर निकलती है तो यही जरूरतें उसके लिए परेशानी बन जाती है। बुनियादी सुविधाओं का अभाव कुछ ज्यादा ही खटकता है आज जब सरकार ट्रेनों में छोटे बच्चे वाली महिला यात्रियों को दूध गर्म पानी और बेबी फूड की सुविधा देने की पहल कर रही है। तो क्या अदालत की चौखट पर खड़ी ऐसी परेशान महिलाओं के लिये कुछ नहीं किया जा सकता यदि अदालत परिसर में छोटे बच्चों के लिए झूलाघर महिलाओं के लिए बैठने के अलग इंतजाम, महिला शौचालय, महिला गार्ड हो तो इनकी उस परेशानी को काफी हद तक कम किया जा सकता है, जिनके अभाव में ये टूट सी जाती है। इस तरह की बुनियादी सुविधाओं की सबसे ज्यादा जरूरत कुटुंब न्यायालय में होती है जहाँ एक पक्ष हमेशा महिलाएँ ही होती है। कई जगह तो कुटुंब न्यायालय दूसरी मंजिल पर भी देखे गये है।

स्वयं भी समस्याओं से ग्रस्त है परिवार परामर्श केन्द्र–महिलाओं को उनका अधिकार और न्याय दिलाने के लिये सरकार ने भले ही अनेक योंजनाएँ बनाई हों लेकिन समाज पर इसका कोई खास फर्क नहीं पड़ा है। आज भी समाज से महिलाओं की स्थिति बद से बदतर बनी हुई है। पुरूष द्वारा सताई गई महिला जब थाने पहुँचती है तो थाने में पदस्थ पुलिसकर्मी उसे महिला थाने यह कहकर भेज देते हैं कि यह तो महिला से संबंधित प्रकरण है इसलिए महिला थाना अनेक प्रकरणों को समझे बिना फरियादी महिला को परिवार परामर्श केन्द्र पहुँचा देते है। यह केन्द्र मजबूर होता है दूसरे पक्ष को नोटिस भेजने के लिये। लेकिन इस केन्द्र की कठोर कानूनी प्रक्रिया न होने के कारण दूसरा पक्ष इसका भरपूर लाभ उठाता है। वह नियत समय पर आना तो दूर नोटिस का जबाव देना भी उचित नहीं समझता। राजधानी के महिला थाने में ऊपरी तल पर परिवार परामर्श केन्द्र चलता है। इस केन्द्र में रोजाना एक समाज सेविका परामर्शदात्री और एक मुख्य आरक्षक समस्या को समझाने के बाद उचित सलाह देती है।

प्रदेशभर में चलाये जा रहे इन परामर्श केन्द्रों में स्टाफ के नाम पर केवल एक आरक्षक ही उपलब्ध करवाया जाता है। इन केन्द्रों के पास न तो अपना कोष है न तो अन्य सुविधायें। फलस्वरूप परिवार परामर्श केन्द्र के परामर्शदाता दम्पत्तियों के प्रकरण हल करने के बाद चाह कर भी देखने नहीं जा पाते कि वे किस हालत में हैं। पुलिस महानिर्देशक दिनेश जुगरान की पहल पर कुछ जिलों में मूल्यांकन करवाया गया था। जिसमें प्रमुखता से सभी परामर्श केन्द्रों ने यह प्रस्ताव दिया था कि उनके यहां स्टाफ की कमी है। कुछ पोस्ट भी उपलब्ध करवाई जाये तथा दंपत्तियों की वास्तविक परिस्थितियों का निरीक्षण हेतु एक वाहन भी उपलब्ध कराया जाये। लेकिन इस मूल्यांकन के वर्षों गुजर जाने के बाद भी प्रस्ताव अधर में ही लटका रह गया।

कुछ प्रयास तो करना होगें –सरकार ने अदालतों में बाहर से आने वाले गरीब और कमजोर वर्ग के पक्षकारों और उनके परिजनों के रूकने के लिए न्याय सेवा सदन बनाए। वर्ष 2006 में शुरू की गई ये योजना अभी सभी जगह लागू नहीं हुई। लेकिन जहाँ भी इस तरह के इंतजाम किए गए है, उनमें रूकने की प्रक्रिया इतनी जटिल है कि सामान्य पक्षकार तो इस सुविधा का लाभ ले ही नहीं सकता इस स्थान पर भी महिलाएं नहीं रूक पाती क्योंकि सुरक्षा के इंतजाम नाकाफी होते है। महिला गार्ड जैसी भी कोई व्यवस्था नहीं होती। न्याय सेवा सदन अदालत परिसर में होते है जहाँ सामान्यतः शहर से बने होते है। कई स्थानों पर बने न्याय सेवा सदनों में तो अभी तक कोई रूक भी नहीं सका। किसी महिला के लिए अदालत की सीढ़ियाँ चढ़ना ही अपने आप में अपमानजनक होता है। ऐसे में यदि उसे बुनियादी सुविधाएं भी मुहैया न हो तो उसकी मानसिक पीड़ा कुछ ज्यादा ही बढ़ जाती है। यदि इस तरह की परेशानी को महिला की नजरों से समझकर हल करने के प्रयास किए

जाएं जो शायद किसी महिला के लिए अदालत आने का दर्द दुगुना होने से बच जाएगा।

महिलाओं के विरूद्ध किये गये अपराधों के जिला स्थान 2001–10 तक

क्र.	वर्ष	प्राप्त आवेदन	समझौता	न्यायालय	अपराध पंजी.	निरस्त
1.	2001	362	261	60	34	7
2.	2002	297	174	60	50	13
3.	2003	119	60	20	39	–
4.	2004	292	135	107	46	4
5.	2005	300	150	80	54	16
6.	2006	256	161	97	92	6
7.	2007	448	198	129	116	5
8.	2008	504	202	102	192	8
9.	2009	456	177	100	174	5
10.	2010	463	323	96	39	5

स्त्रोत – परिवार परामर्श केन्द्र नरसिंहपुर से प्राप्त

महिलाओं के विरूद्ध किये गये अपराधों के जिला स्थान 2011–15 तक

क्र.	वर्ष	प्राप्त आवेदन	समझौता	न्यायालय	अपराध पंजी.	घरेलू हिंसा	निरस्त	‘ शेष
1.	2011	292	148	83	8	7	46	–
2.	2012	317	191	87	04	03	32	–
3.	2013	283	134	85	12	04	48	–
4.	2014	338	195	88	09	03	43	–
5.	2015	359	201	87	21	03	47	–

स्त्रोत – परिवार परामर्श केन्द्र नरसिंहपुर से प्राप्त

महिलाओं के विरूद्ध किये गये अपराधों के जिला स्थान 2016 तक

क्र.	माह	पूर्व में लंबित			समझौता	न्यायालय	अपराध पंजी.	घरेलू हिंसा	निरस्त	शेष
		लंबित	प्राप्त	कुल						
1.	जनवरी	11	13	24	6	3			2	19
2.	फरवरी	15	13	28	13	02			2	10
3.	मार्च	10	17	27	10	4	3		3	7
4.	अप्रैल	07	17	24	11		1	1	3	6
5.	मई	8	26	32	14	6	3			9
6.	जून	14	58	72	29	12	2		2	27

स्त्रोत – परिवार परामर्श केन्द्र नरसिंहपुर से प्राप्त

उद्देश्य :

1. परिवार के विघटन को रोकना, यदि यह संभव नहीं हो तो दोनों पक्ष एक दूसरे प्रेम अलग हो, यह प्रयास करना।
2. भारतीय संस्कृति में समाहित संयुक्त परिवार की धारणा को प्रोत्साहन देना।
3. परिवारिक विवाद के प्रकरणों में न्यायालयीन प्रक्रिया को यथासंभव निरूत्साहित करना।

परिवार परामर्श केन्द्र की सुलह कार्य प्रक्रिया

परिवार परामर्श केन्द्र में सुलह आवेदन प्राप्त होने पर उसे सुलह पंजी में दर्ज किया जाता है सुलह पंजी वष केअनुसार चलती है।

आवेदन पत्र सुलह पंजी के दर्ज करने से पूर्व/पश्चात संबंधित परामर्श केन्द्र के अध्यक्ष पुलिस प्रभारी को अवलोकन हेतु प्रस्तुत किया जाता है। उस पर निर्देश प्राप्त किये जाते है, सुलहकर्ताओं के संख्या के आधार पर विवादित प्रकरणों की संख्या उस दिन सुलह हेतु रखी जाती है आधे से एक घण्टे का समय मोटे तौर पर दिया जाता है।

सुलह हेतु उपस्थिति में नोटिस की तामिली एक प्रति सुलह दिन के पूर्व परामर्श केन्द्र को वापस प्राप्त हो जाना चाहिए। विवादित पक्षों में पति पत्नि के सिवाय उनके बुजुर्ग अभिभावकों को सम्मिलित करना सुलह में सहायक होता है।

सुलह हेतु उपस्थित पक्षों को सुनने के लिए गोपनीयता अपनाई जाती है दोनों पक्षों के विवाद का कारण मालूम करने के पूर्व दोनों की पारिवारिक पृष्ठभूमि की जानकारी अवश्य ले लेनी चाहिए। उसके पश्चात् विवाह कब व कैसे हुआ उसकी वैधता को परख लेना चाहिए तत् पश्चात् विवाद का कारण जानने हेतु दोनों पक्षों को पर्याप्त मौका देना चाहिए।

विवाद को पूरी तरह सुन लेने के पश्चात् ही लेख बद्ध करना उचित होता है। विवाद का कारण अर्थात् एक दूसरे के प्रति आरोपों का ब्यौरा पृष्ठ दर्ज किया जाना चाहिए झूठे आरोपों पर सुलह कर्ता को स्पष्ट राय जारी करना चाहिए।

आरोपों को सुनने के पश्चात् सुलह कार्य किया जाना चाहिए। दोनों पक्ष किन शर्त पर सुलह स्वीकार करेगे सुलह का एक स्वरूप होना चाहिए यह दर्ज किया जाना चाहिए। सुलह कार्य के दौरान आरोपों की सत्यता एवं आरोपों के कार्यों की जानकारी करना एवं उसका लेख जरूरी है क्योंकि हो सकता है कि भविष्य में यह रिकार्ड अदालत में पेश करना पड़े। सुलह होने या न होने या सोचने हेतु समय देने का उल्लेख करते हुए विवाद की समीक्षा हेतु 15 दिन बाद की उपस्थिति हेतु दोनों को सूचित करना उचित होता है।

सुलह न होने कि स्थिति में दोनों पक्षों के प्रकरण को पंजीबद्ध करते हुए स्वविवेक से अग्रिम कार्यवाही की समझाईश देना चाहिए। प्रकरण सुलह के अकारण विवाद ये किसी भी पक्ष को न्याय हित में हानि न हो यह अवश्य ध्यान रखा चाहिए। सुलह हो जाने या न होने पर संबंधित थाने को सूचित करना जरूरी है। दोनों विवादित पक्षों एवं उनके सहयोगियों के हस्ताक्षर व नाम, पता सुलहनामा पर स्पष्ट अंकित होना चाहिए। इस पूरी कार्यवाही का संक्षिप्त विवरण सुलह पंजी में दर्ज रहना चाहिए।

भारतीय संगीत में गजल का इतिहास एवं विकास

श्रीमती शोभना सोंधिया
नी–शोभना कश्यप

गजल का इतिहास एवं विकास : ''भारत एक ऐसा देश रहा है जिसमें अति–प्राचीन काल से विभिन्न जातियाँ आती–जाती रही हैं। इन जातियों में से कुछ जातियाँ यही घुल–मिल गई और यहीं की होकर रह गईं। जब किसी देश में बाहर की जातियों का विलय होता है तो यह निश्चित है कि इस विलय की प्रक्रिया में एक दूसरे की संस्कृति का आदान–प्रदान भी होता है, जिसके फलस्वरुप एक नई संस्कृति जन्म लेती है। इस विलय की प्रक्रिया में एक दूसरे की कुछ मान्यताओं को स्वीकारा भी जाता है तथा कुछ मान्यताओं को अस्वीकारा भी जाता है। आदान–प्रदान की इस प्रक्रिया में साहित्य, संगीत, स्थापत्य कला एवं संस्कृति का प्रभाव भी एक दूसरे पर अवश्य होता है''।

''जब 12वीं शताब्दी में तुर्क सुल्तानों का शासन स्थापित हो गया तो उसके साथ ही एक दूसरे की संस्कृति में भी समन्वय की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई। भाषा के नाम पर तुर्क अपने साथ फारसी भाषा एवं काव्य विधा के रुप में कसीदा, मसनवी और गजल की विरासत साथ लाये थे।''[1]

''इतिहासकार मोहम्मद उफी ने लिखा है कि मसूद बिन सअद् सलमान के तीन दीवान हुए हैं, एक अरबी, दूसरा फारसी और तीसरा हिन्दी। अमीर खुसरों ने भी अपने दीवान गुर्रतुल कमाल की भूमिका में यह स्वीकारा है कि मसूद के तीन दीवान अरबी, फ़ारसी और हिन्दवी में थे।''[2]

भाषाओं के समन्वय के परिणाम स्वरुप इस काल में जिस नई भाषा का जन्म हुआ उसे 'उर्दू' कहा गया। इस उर्दू भाषा में स्थानीय भाषा के अलावा अरबी, फारसी, तुर्की के शब्दों का समावेश हुआ। उर्दू भाषा को उस काल में 'लश्करी' के नाम से भी पुकारा जाता था तथा कुछ लोग इसे 'हिन्दी' तथा 'हिन्दवी' के नाम से भी पुकारते थे। 13वीं शताब्दी के इस काल में अमीर खुसरों ने न सिर्फ फारसी गजल वरन् हिन्दवी गजल कहने का भी एक खास अंदाज पैदा किया।

''अमीर खुसरों की खालिकबारी (हिन्दी–उर्दू के सबसे पुराने कोश) में सब जगह हिन्दी या हिन्दवी आया है।''[3]

अमीर खुसरों ने अपनी गजल में एक और चीज़ का इजाफा किया और वे ये कि उन्होंने अपनी गजल में मौसिकी का रंग भर दिया।

खुसरों ने ही सबसे पहले इस भाषा को 'हिन्दी' नाम से पुकारा जैसे :–

''शर्मो हया कर हिन्दी लाज।
हासिल कहिये बाज़ खिराज।।''[4]

खुसरों ने कहीं–कहीं इस भाषा का नाम 'हिन्दवी' भी लिखा है जैसेः–

''बि" नो तो नाम चरखा बेचारी परिजन।
गोयन्द नाम रहटा दर हिन्दवी बचन।''[5]

अमीर खुसरो (1253–1325 ई.) ने फारसी और हिन्दुस्तानी बोलियों को समीप लाने के लिए जो क्रांतिकारी प्रयत्न किया था उसकी परम्परा आगे के युगों में तेज गति से नहीं बढ़ पाई, परंतु जब दक्षिण में स्थानीय सल्तनतें स्थापित हुई तो वहाँ जिस भाषा का विकास हुआ वह 'दकनी' कहलाई। दकनी भाषा के शायरों ने अपनी गजल में हिन्दुस्तानी वातावरण के स्वरुप को सफलतापूर्वक उभारा। जब दक्षिण में दकनी गजल अपनी बाल्यावस्था में थी उस समय उत्तरी भारत (विशेष कर दिल्ली और उसके आसपास) में फारसी गजल का अधिक प्रचलन था। ''उर्दू ग़ज़ल के जो प्रमुख शायर हुए उनके प्रमुख नाम हैं मोहम्मद कुली कुतुब शाह, नुसरती गव्वासी इत्यादि।''[6]

[1]डॉ. प्रेम भण्डारी : हिन्दुस्तानी संगीत में ग़ज़ल गायकी, पृश्ठ–11
[2]डॉ. ज्ञानचंद – खड़ी बोली के इर्तिका में, अमीर खुसरों का हिस्सा, खुसरों भानासी
[3]अयोध्या प्रसाद गोयलीय : शेर–ओ शायरी, पृ.52
[4]राम नरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी, भाग 4, 1955, पृ. 6
[5]राम नरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी, भाग 4, 1955, पृ. 6
[6]डॉ. कामिल कुरैशी : उर्दू गजल, 1988, पृ.

SRF National & International Research Journal & Book Publication House, 320, Sewa path, Sangeevni Nagar, Garha, Jabalpur (M.P.)
Email Id:ijssmsjbp@gmail.com, srfjbp@gmail.com, www.srfresearchjournal.comPhone- 0761-4036611, Mo. 9993332299

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि 'वली' ही उर्दू गजल के युग–प्रवर्त्तक शायर हुए हैं, जिसने सबसे पहले दकनी और उत्तर भारत की साहित्यिक परम्पराओं का समन्वय कर उन्हें एक धागे में पिरोया। इस प्रकार 'वली' ने प्राचीन उर्दू को भौगोलिक सीमाओं से आज़ाद करके उसे सारे भारत में साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बना दिया। उत्तरी भारत में अब तक उर्दू रेख्ता (बिखरी हुई, गिरी हुई) भाषा समझी जाती थी, परन्तु वली ने उर्दू की साख बनाई और दिल्ली में भी फारसी के स्थान पर उर्दू गजल का रिवाज चल पड़ा। यह 'वली' की उर्दू गजल के लिए एक बहुत महत्वपूर्ण देन थी।

इस युग में दिल्ली के शायर हातिम, आबर एवं फाइज देहलवी भी वली दकनी की गजल से प्रभावित हुए और वली की उर्दू गजल की परम्परा को आगे बढ़ाया। ''वली, काव्य परम्परा के अनुसार हिन्दुस्तानी एवं ईरानी धाराओं के दो राहे पर खड़े नजर आते है और इन दोनों रास्तों से होकर वो फन की मंज़िल तक पहुँचे हैं।''[7]

''वली ने फारसी भाषा के कवियों का मुँह फारसी से हटाकर उर्दू की ओर मोड़ा।''[8]

''17वीं शताब्दी में हिन्दवी भाषा को फारसी शब्दों के साथ वली दकनी ने प्रचलित किया।''[9]

इस पीढ़ी के बाद जो शायर हुए वो गजल के आकाश में चाँद सितारों की तरह जगमगाये। इनमें प्रमुख है – मीर दर्द (1721–1785), मिर्जा मुहम्मद रफी सौदा (1706–1781) और मीर तकी 'मीर' (1725–1810)।

मीर–तकी–मीर इस युग के सबसे बड़े गजल शायर हुए थे। मीर की गजल की शैली इस प्रकार दिल को लुभाने वाली थी कि उसके बाद आने वाले शायरों में गालिब, जौक, फिराक और नासिर काजमी सभी उनके अन्दाज में गजलें लिखने का प्रयत्न करते रहे लेकिन किसी को भी उनका अन्दाज नसीब न हो सका। इसी युग में मुशायरों का चलन भी प्रचलित हुआ।

19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में दिल्ली फिर उर्दू गजल का प्रमुख केन्द्र बनी। इस युग के उल्लेखनीय शायर ''शाह नसीर (1835 मृत्यु), जौक (1789–1854), गालिब (1796–1869), खाँ मोमिन (1800–1851) तथा बादशाह बहादुर शाह जफर (1837–1868)'' हुए। यह दौर उर्दू शायरी का सुनहरा दौर कहलाया।

जौक ने जुवान की सफाई पर ज्यादा ध्यान दिया उन्होंने सीधी–सीधी भाषा में गजल कही जिसकी पराकष्ठा आगे जाकर दाग देहलवी की गजलों में देखी जा सकती है। 'मोमिन' की ग़ज़ल इश्क की वारदात तक सीमित रही। मीर तकी 'मीर' के बाद 'गालिब' उर्दू का एक ऐसा प्रकाश–स्तम्भ है जिनकी गजल ने उर्दू गजल को नये आयाम से परिचित करवाया। गालिब की गजल न सिर्फ अश्क और आशिकी तक सीमित रही बल्कि उसमें जीवन की छोटी से छोटी अनुभूतियों के अतिरिक्त जीवन की बड़ी से बड़ी घटनाओं का उल्लेख बड़े दार्शनिक अंदाज में किया गया है।

''गालिब की कविता में हृदय की महीन से महीन तरंग का ऐसा स्पष्ट वर्णन मिलता है कि तबीयत फड़क उठती है। इनके भोरों की भाषा उत्प्रेक्षा, शब्द–विन्यास और उपमाएं एक से एक निराली हैं।''[10]

ब्हादुरशाह जफर के उस्ताद 'जौक' थे। अन्तिम समय की जो गजलें इनकी लिखी हुई हैं उनमें अपने वतन की मोहब्बत का एवं निजी जीवन की वेदना का बड़ा भावपूर्ण वर्णन किया है।

गालिब के बाद परम्परावादी शैली में गजल कहने वाले दो प्रमुख शायर अमीर मीनाई (1828–1900) तथा मिर्जा 'दाग' देहलवी (1831–1905) हुए। इन दोनों शायरों ने गजल की भाषा को माँझने व सँवारने का उल्लेखनीय कार्य किया।

''दाग और उनके समकालीन शायरों ने गजल के जिस अन्दाज़ को पेश किया उसकी तरक्की के इमकानात बहुत जल्दी ही मज्दूद हो गये। फिर ये भी बात थी कि दाग के रंग में गजल कहकर कोई शायर अपनी मौलिकता को उभार नहीं सकता।''[11]

'हाली' न केवल गजल के शायर थे वरन् नई नई नज़्म के युग प्रवर्तक एवं आलोचक भी थे। 'हाली' गालिब और इकबाल के बीच की कड़ी थे। इन्होंने अपनी गजलों में यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया।

20वीं शताब्दी में उर्दू के महान गजल शायर मोहम्मद इकबाल (1874–1938) हुए। प्रमुख रुप से ये उर्दू की नई नज्म के युगप्रवर्तक शायर थे, परन्तु उन्होंने

[7]कामिल कुरैशीः उर्दू गजल, 1981, पृ. 44
[8]अयोध्या प्रसाद गोयलीय : भोरो–ओ–शायरी, 1948, पृ. 35
[9]हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी, पृ. 19
[10]राम नरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी, पृ.384
[11]डॉ. मुगनी तब्बसुम : जदीद उर्दू गजल (पत्रिका), 1977, पृ. 53

SRF National & International Research Journal & Book Publication House, 320, Sewa path, Sangeevni Nagar, Garha, Jabalpur (M.P.)
Email Id:ijssmsjbp@gmail.com, srfjbp@gmail.com, www.srfresearchjournal.comPhone- 0761-4036611, Mo. 9993332299

उर्दू गजल को दर्शन की नई राहों से भी परिचित कराया। डॉ. इकबाल ने अपने अन्तिम युग में जो गजलें कहीं हैं वही नये युग का प्रतिनिधित्व करती है। जगन्नाथ आजाद के शब्दो में ''इकबाल की इस दौर की गजलें गमे दौरा की चमक–दमक से जगमगा रही हैं।''[12]

इकबाल के समकालीन ही उर्दू गजल के प्रमुख शायरों में फानी बदायूनी, असगर गोंडवी, हसरत मोहानी, जिगर मुरादाबादी और यगान चंगेजी गजल के उल्लेखनीय शायर हुए। इन शायरों का युग डॉ. इकबाल के उरुज का जमाना था। इसके बावजूद ये लोग बराबर गजल कहते रहे ।

''फानी ने गम की वादी में पनाह ढूँढ़ी। असगर अपनी गजल का मुख्य विषय तसव्वुफ को अपनाया। हसरत मोहनी ने गजल को घर आँगन के वातावरण से परिचित करवाया और जिगर मुरादाबादी ने इश्क के जज्बात को एक नई तरंग के साथ अपनी गजलों में समोया।''[13]

''इन शायरों के समकालीन गजल के एक प्रमुख शायर का उल्लेख किया जाना अत्यन्त आवश्यक है, इनका नाम 'रघुपति सहाय है एवं उपनाम फ़िराक गोरखपुरी है'। फिराक जदीद गजल को मोड़ देने वाले प्रमुख शायर हैं। इनकी खूबी यह है कि इन्होंने एहसासे–जमाल को जीवन और कायनात को समझने के लिए एक मूल्य के रुप में इस्तेमाल किया।''[14]

इस आन्दोलन में केवल तीन शायर ऐसे रहे जिन्होंने संजीदगी से गजल की ओर ध्यान दिया। मुईन अहसन जज्बी, मजरुह सुल्तानपुरी और फैज अहमद फैज ने गजल का साथ नहीं छोड़ा। जाँ–निसार अख्तर ने भी अपनी जिंदगी के आखिरी दौर में गजल को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया और नई ताजगी के साथ गजलें कहीं।

''1947 से पहले संयुक्त पंजाब में जो लोग गजल को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाये हुए थे उनमें हफीजजालंधरी, सूफी गुलाम तब्बसुम, हफीज होशियारपुरी, ऐहसान दानिश, सेफुद्दीन सैफ, कतील शिफाई, अब्दुल हमीद अदम, आबिद अली आबिद आदि प्रमुख हैं।''

''1947 में भारत आजाद हुआ परन्तु साथ में देश का विभाजन भी हुआ। भारतीय उप महाद्वीप में ये विचित्र ढंग का इंकलाब था। खून की होलियां खेली गई। हजारों लोग, जिनमें फनकार भी शामिल थे, अपने घरों को छोड़कर अजनबी शहरों में रहने को मजबूर कर दिये गये। आजादी के बाद जो गजल शायर उभरे उनकी गजलों में अपने वतन को छोड़ने का दुख सबसे ज्यादा उजागर हुआ। पाकिस्तान में सन् 1950 के बाद जिन प्रमुख गजल के शायरों ने अपनी पहचान बनाई उनमें प्रमुख हैं –शकैब जलाली, शहजाद अहमद, जफर इकबाल, अहमद फराज इत्यादि।''

''भारत में आजादी के बाद भी उर्दू गजल का सफर जारी रहा आजादी के बाद गजल लिखने वाले शायरों में डॉ. बशीर बद्र, निदा फाजली इत्यादि प्रमुख शायर हैं। इस प्रकार दिये गये ऐतिहासिक विवरण से यह स्पष्ट होता है कि उर्दू गजल ने अपना प्रारम्भिक सफर 13वीं शताब्दी से अमीर खुसरों के साथ प्रारम्भ किया और 20वीं शताब्दी से होती हुई 21वीं शताब्दी तक दस्तक दी। गजल का यह लम्बा सफर कभी भी उबाने वाला या थकाने वाला नहीं लगा। इसमें बराबर ताजगी बनी रही और हर युग की जरुरतों को इसने ऐसे दिलनशी अन्दाज में अपने आप में समाया है कि वो हर दौर की पहचान और आवाज बन गई तथा हर दौर में हर मजहब और हर प्रान्त के लोगों को अपनी ओर आकर्षित करती रही। पूरी सम्भावना है कि आने वाली सदियों में भी गजल इसी तरह नई ताजगी के साथ लोकप्रिय होती रहेगी।''

संदर्भ :–

1. डॉ. प्रेम भण्डारी : हिन्दुस्तानी संगीत में गजल गायकी, पृष्ठ–11
2. डॉ. ज्ञानचंद – खड़ी बोली के इर्तिका में, अमीर खुसरों का हिस्सा, खुसरों भानासी
3. अयोध्या प्रसाद गोयलीय : शेर–ओ शायरी, पृ. 52
4. राम नरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी, भाग 4, 1955, पृ. 6
5- डॉ. कामिल कुरैशी : उर्दू गजल, 1988, पृ.

[12]जगन्नाथ आज़ाद : हाली, उर्दू गजल, 1987, पृ. 248
[13]डॉ. प्रेम भण्डारी : हिन्दोस्तानी संगीत में गजल गायकी, पृ. 17
[14]डॉ. प्रेम भण्डारी : हिन्दोस्तानी संगीत में गजल गायकी, पृ. 17

नरसिंहपुर जिले में पंचायत के कार्यों में महिला सहभागिता

श्रीमती अनामिका श्रीवास्तव, जबलपुर

विकास समाज की मांग है, विकास योजनाबद्ध तरीके से किये जाने पर सार्थक होता है और समाज की प्रत्येक इकाई विकास से लाभान्वित होती है। विकास योजनाओं के क्रियान्वयन में नियोजकों और नीति नियंत्रकों की वर्तमान सोच के अनुसार विकास योजनाओं का निर्धारण और आंकलन जन साधारण या जनता के स्तर पर किया जाना चाहिए। इसलिए आज विकास के संदर्भ में एक नई सोच और अवधारणा समाज में विकसित हुई है कि विकास कार्यों में जनसहभागिता प्रारम्भ करने के लिये देश की आधी जनसंख्या अर्थात महिलाओं को विकासात्मक प्रक्रिया का अंग बनाया जाना चाहिए।

भारतीय ग्रामों में विकास और न्याय के लिए वैदिक काल से ही ग्रामपंचायतों का अस्तित्व रहा है, ग्रामपंचायतें भारतीय समाज की सांस्कृतिक पहचान हैं। पंचायतों को सशक्त बनाने के लिये उन्हें आर्थिक व सामाजिक उत्थान के लिए पंचायतीराज को चुना गया। पंचायतों को सशक्त बनाने के लिये सन् 1988 में संविधान में 73वां संशोधन किया गया, इस संशोधन द्वारा पंचायतों में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण दिया गया। गांव में सामाजिक दबाव के चलते राजनीति और प्रशासन में पहली बार महिलाओं की सहभागिता सुनिश्चित की गई। देश में सर्वप्रथम मध्यप्रदेश में सभी स्तरों पर पंचायतों में 1994 में हुए पंचायतीराज चुनाव में 33 प्रतिशत स्थानों पर महिलाओं का निर्वाचन हुआ। मध्यप्रदेश सरकार द्वारा पंचायतों में 50 प्रतिशत स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित किये गये हैं, जिसके आधार पर आगामी पंचायतों में महिलाओं की 50 प्रतिशत सहभागिता हो जायेगी।

नरसिंहपुर जिला अंतर्गत विकास योजनाओं में महिला सहभागिता

विभिन्न योजनाओं जैसे– प्रधानमंत्री सड़क योजना सी.सी. रोड निर्माण योजना, पंचपरमेश्वर योजना, मनरेगा, महिला सशक्तिकरण, मर्यादा योजना आदि में जो कार्य किये उनमें महिला एवं पुरुष सहभागिता का तुलनात्मक विवरण निम्नानुसार है – प्रधानमंत्री सड़क योजना के तहत् शासन द्वारा कुल आवंटित राशि में से नरसिंहपुर विकास खण्ड में जहां 83.8 प्रतिशत राशि पर पुरुष जनप्रतिनिधियों द्वारा कार्य किया गया वहीं महिला जनप्रतिनिधियों द्वारा इस योजना पर 89.9 प्रतिशत राशि खर्च कर कार्य किया गया है।

2009–10 गोटेगांव विकासखण्ड में प्रधानमंत्री सड़क योजना के तहत् पुरुष जनप्रतिनिधियों द्वारा 65.5 प्रतिशत राशि का उपयोग किया गया। वहीं महिला जनप्रतिनिधियों द्वारा 68.9 प्रतिशत राशि उपयोग में लायी गई। इसी क्रम में गोटेगांव विकासखण्ड में ही 2012–13 में प्रधानमंत्री सड़क योजना के अन्तर्गत जहां पुरुषजन प्रतिनिधियों द्वारा 78 प्रतिशत राशि खर्च कर कार्य किया गया वहीं महिला जनप्रतिनिधियों द्वारा 82.4 प्रतिशत कार्य किया गया है। 2013–14 में यही आंकड़ा 80.4 पुरुष जनप्रतिनिधि व 82.63 प्रतिशत महिला जनप्रतिनिधियों द्वारा कार्य किया गया है जो निश्चित ही महिलाओं की स्थिति को पुरुष जनप्रतिनिधियों से अधिक प्रस्तुत करता है।

चांवरपाठा विकासखण्ड के अन्तर्गत 2009–10 में जहां पुरुष जनप्रतिनिधियों द्वारा प्रधानमंत्री सड़क योजना के तहत 89.4 प्रतिशत कार्य किया गया वहीं महिला जनप्रतिनिधियों द्वारा 91.3 प्रतिशत कार्य किया गया है। यह हर साल निरंतर बढ़ता हुआ आंकड़ा रहा है। 2013–14 में यह आंकड़ा 65.1 प्रतिशत पुरुष जनप्रतिनिधियों द्वारा किये गये कार्य व महिला जनप्रतिनिधियों द्वारा 70 प्रतिशत कार्य किये गये हैं प्रस्तुत करता है।

करेली विकासखण्ड के अन्तर्गत प्रधानमंत्री सड़क योजना के द्वारा 2012–13 में जहां पुरुष जनप्रतिनिधियों द्वारा 87.4 प्रतिशत कार्य किया गया है वहीं महिला जनप्रतिनिधियों द्वारा 91.3 प्रतिशत कार्य किया गया जो पुरुष जनप्रतिनिधियों की तुलना में अधिक है।

चीचली विकासखण्ड के अन्तर्गत प्रधानमंत्री सड़क योजना में पुरुष जनप्रतिनिधियों द्वारा 78.3 प्रतिशत कार्य किया गया वहीं महिला जनप्रतिनिधियों द्वारा 79.8 प्रतिशत कार्य किया गया जो उत्कृष्ट उपलब्धि है।

सांईखेड़ा विकासखण्ड में प्रधानमंत्री सड़क योजना के तहत् पुरुष जनप्रतिनिधियों द्वारा 65.4 प्रतिशत कार्य किया गया एवं महिला जनप्रतिनिधियों द्वारा 68.4 प्रतिशत राशि खर्च कर कार्य किया गया है, यह भी पुरुष जनप्रतिनिधियों की तुलना में अधिक कार्य है। 2011–12 में यह प्रतिशत 10 प्रतिशत से अधिक

बढ़ा है।

मर्यादा योजना के अन्तर्गत 2013–14 में जहां पुरुष जनप्रतिनिधियों द्वारा 91.6 प्रतिशत राशि व्यय कर कार्य किये गये वहीं महिला जनप्रतिनिधियों द्वारा 89.9 प्रतिशत कार्य किये गये।

गोटेगांव विकासखण्ड में मर्यादा योजना के अन्तर्गत पुरुष जनप्रतिनिधियों द्वारा 68.5 प्रतिशत कार्य किया गया वहीं महिला जनप्रतिनिधियों द्वारा 73.9 प्रतिशत कार्य किया गया जो महिलाओं द्वारा पुरुषों की तुलना में अधिक कार्य करना प्रस्तुत करता है। 2012–13 में पुरुष जनप्रतिनिधियों ने 71.9 प्रतिशत राशि व्यय कर कार्य किये हैं वहीं महिला जनप्रतिनिधियों द्वारा 78.3 प्रतिशत कार्य किया गया जो स्पष्ट रूप से महिला जनप्रतिनिधियों द्वारा किये गये अधिक कार्य को प्रस्तुत करता है।

करेली विकासखण्ड के अन्तर्गत 2009–10 में मर्यादा अभियान के अन्तर्गत 68.7 प्रतिशत कार्य पुरुष जनप्रतिनिधियों द्वारा किया गया। वहीं महिला जनप्रतिनिधियों द्वारा 72.3 प्रतिशत राशि खर्च कर कार्य किये गये हैं। वर्ष 2011–12 में इसी योजना के तहत् 71.3 प्रतिशत पुरुष जनप्रतिनिधियों द्वारा राशि व्यय कर कार्य किया गया वहीं महिला जनप्रतिनिधियों द्वारा 78.4 प्रतिशत कार्य किया गया। वर्ष 2012–13 में पुरुष जनप्रतिनिधियों द्वारा 71.9 प्रतिशत कार्य किये गये वहीं महिला जनप्रतिनिधियों द्वारा 78.3 प्रतिशत कार्य किये गये हैं जो निश्चित ही महिलाओं द्वारा किये गये कार्य की उत्कृष्टता को प्रस्तुत करता है।

इसी क्रम में चीचली विकासखण्ड के अन्तर्गत भी मर्यादा अभियान योजना के तहत् 68 प्रतिशत राशि व्यय कर पुरुष जनप्रतिनिधियों ने कार्य किये हैं वहीं महिला जनप्रतिनिधियों द्वारा 72 प्रतिशत राशि खर्च कर कार्य किये गये हैं। चीचली में यह क्रम बढ़ता हुआ ही दिखाई देता है जिसमें 2011–12 में इसी योजना के तहत् 75.8 प्रतिशत राशि व्यय कर पुरुष जनप्रतिनिधियों द्वारा कार्य किये गये वहीं महिला जनप्रतिनिधियों ने 85. 5 प्रतिशत राशि व्यय कर कार्य किये हैं। वर्ष 2012–13 में इसी योजना पर 78.9 प्रतिशत पुरुष जनप्रतिनिधियों द्वारा कार्य किये गये। इसी योजना में महिला जनप्रतिनिधियों ने 83.4 प्रतिशत राशि खर्च कर कार्य प्रस्तुत किये।

सांईखेड़ा विकास खण्ड में वर्ष 2009–10 में मार्यादा अभियान के अन्तर्गत 68.5 प्रतिशत पुरुष जनप्रतिनिधियों द्वारा कार्य किया गया व महिला जनप्रतिनिधियों द्वारा 73.6 प्रतिशत कार्य कर महिलाओं ने 5 प्रतिशत अधिक राशि व्यय कर अपने कार्यों को सम्पन्न कराया है। वर्ष 2011–12 में पुरुष जनप्रतिनिधियों द्वारा 72.9 प्रतिशत राशि व्यय कर कार्य किये गये, वहीं महिला जनप्रतिनिधियों द्वारा 78.8 प्रतिशत कार्य प्रस्तुत किये गये। इसी प्रकार महिलाओं के द्वारा किये गये कार्यों की अधिक प्रस्तुति हुई है।

चांवरपाठा विकासखण्ड द्वारा मर्यादा अभियान के अन्तर्गत पुरुष जनप्रतिनिधियों ने 73.4 प्रतिशत कार्य किया है, वहीं महिला जनप्रतिनिधियों ने इसी योजना पर 78.9 प्रतिशत कार्य किया। इसी क्रम में वर्ष 2013–14 में दोनों की राशियां क्रमशः 79.9 व 85.5 प्रतिशत रही हैं जो महिलाओं की स्थितियों को मजबूत बनाता है।

नरसिंहपुर जिले के सभी विकासखण्डों में विभिन्न योजनाओं में महिला जनप्रतिनिधियों ने पुरुष जनप्रतिनिधियों की तुलना में या तो बराबर से कार्य किया है या उनसे अधिक कार्य किया है। पंचपरमेश्वर योजना में भी इसी तरह सभी विकासखण्डों में महिला जनप्रतिनिधियों ने अपनी भूमिका अधिक मजबूत की है। महिला सशक्तिकरण के अन्तर्गत भी महिला जनप्रतिनिधियों ने पुरुष जनप्रतिनिधियों की तुलना में अधिक कार्य किये हैं। सांईखेड़ा में भी इस योजना के अन्तर्गत पुरुष जनप्रतिनिधियों ने 65.3 प्रतिशत कार्य किया वहीं महिला जनप्रतिनिधियों द्वारा 71 प्रतिशत कार्य किया गया।

तालिका क्र. 1
महिला व पुरुष जनप्रतिनिधियों की स्थिति
जिला पंचायत नरसिंहपुर जिले के निर्वाचित
जनप्रतिनिधि महिला एवं पुरुषों की संख्या
2005–2009–2014 में

वर्ष	पुरुषों को संख्या	महिलाओं की संख्या
2005–06	10	5
2009–10	5	10
2014–15	7	08

स्त्रोतः– नरसिंहपुर जिला पंचायत से प्राप्त आंकड़ों के आधार पर

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि 2005 में कुल संख्या 15 जिला स्तर पर थी जिसमें पुरुष जनप्रतिनिधियों की संख्या 10 वहीं महिला जनप्रतिनधियों की संख्या 5 थी। इसी क्रम में 2009 में यह संख्या 15 में से 5 पुरुष जनप्रतिनिधि व 10 महिला जनप्रतिनिधि की संख्या हो गई। 2014 में यह संख्या 15 में से 07 पुरुष जनप्रतिनिधि व 08 महिला जनप्रतिनिधि की संख्या हो गई। अतः स्पष्ट होता है कि पहले की तुलना में आज महिला जनप्रतिनिधियों की

संख्या पुरुष जनप्रतिनिधियों 50 प्रतिशत चल रही है जो उनके बराबर के प्रतिनिधित्व को प्रस्तुत करती है।

ग्राफ क्र. 1 (अ)
महिला व पुरुष जनप्रतिनिधियों की स्थिति
जिला पंचायत नरसिंहपुर जिले के निर्वाचित जनप्रतिनिधि महिला एवं पुरुषों की संख्या
2005–2009–2014 में

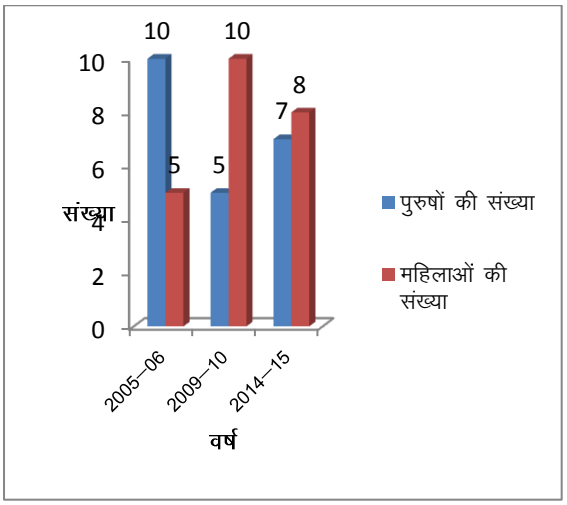

प्रस्तुत ग्राफ में पुरुषों की संख्या को प्रस्तुत किया गया है।

ग्राफ क्र. 1 (ब)
जिला पंचायत नरसिंहपुर में पुरुषों की संख्या

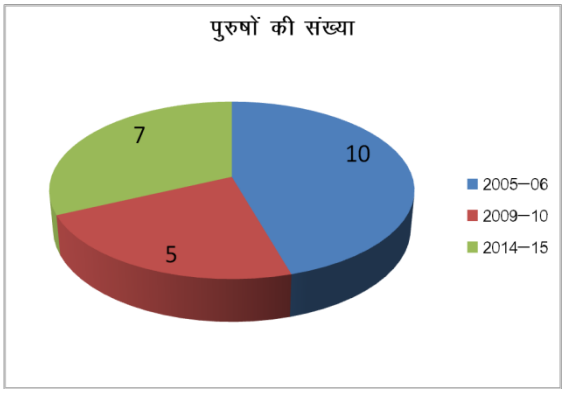

प्रस्तुत ग्राफ में महिलाओं की संख्या को प्रस्तुत किया गया है।

ग्राफ क्र. 1 (स)
जिला पंचायत नरसिंहपुर में महिलाओं की संख्या

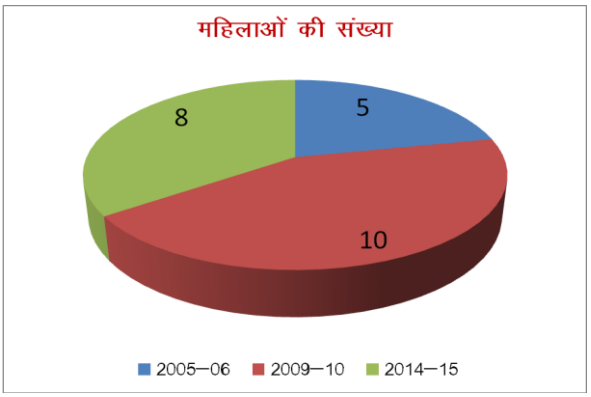

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि नरसिंहपुर जिले में पंचायत के कार्यों में महिला सहभागिता में निरंतर वृद्धि होती जा रही है। स्पष्ट है कि महिला जनप्रतिनिधियों के पास प्रशासनिक क्षमता के साथ विकास योजनाओं से सम्बंधित उपयुक्त सोच भी है।

संदर्भ

1. सिसोदिया डॉ. यतीन्द्र सिंह – मध्यप्रदेश में पंचायती राज व्यवस्था, म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल
2. मध्यप्रदेश पंचायिका
3. जिला पंचायत, नरसिंहपुर (विभिन्न विकासखण्ड) से प्राप्त समंक

RURAL UNEMPLOYMENT IN INDIA

Gulnar Vilku
Research Scholar R.D.V.V. Jabalpur

Employment is the bedrock of both development and social upliftment, particularly in the rural sector. The Eighth Five year plan has rightly observed, "Employment, to be gainful and sustainable, has therefore, to be productive in character; it should be able to yield a reasonable level of income to the worker and also generate surplus for further growth and employment generation."

Unemployment is the major problem facing both the developed and developing countries. According to the Eighth plan, strategies for rural development should aim at ensuring not only economic benefits, but also social transformation in the post angle. Improvements in health, education, transport, sanitation, drinking water, housing and also attitudinal changes need to be priorities without delay. The Eighth plan drew attention to the fact that poverty is more alarming than unemployment. The plan document rightly observed, "More employment needs to be generated at higher levels of productivity in order to generate higher output. Employment at miserably low levels of productivity and income is already of far greater magnitude than unemployment as such." Unemployment was higher under both the UPSS and CWS but rural unemployment was higher under the CDS approach. This possibly indicates higher intermittent or seasonal unemployment in rural than urban areas, something that employment generation schemes like the MGNREGA need to pay attention to. However, overall unemployment rates were lower in 2009-10as compared 2004-05. However, the decline in female LFPRs was larger under each measure in comparison with male LFP which either declined marginally (UPSS), remained constant(CWS), or increased marginally(CDS).

As per usual status(Adjusted) NSS 66th round 2009-10, the unemployment rate (per1000) among the major states in the lowest in Gujarat(18) and highest in kerala(73) and Bihar (73) in urban areas and the lowest in Rajasthan (4) and again highest in Kerala(75) in rural areas. The low unemployment rate in rural areas in Rajasthan may partly be due to high absorption of MGNREGA funds in the state. Kerala, which has performed well in terms of most indicators, performs less in terms of unemployment (both rural and urban). This may be due to the higher level of education in Kerala resulting in people not opting for manual jobs as observed by some studies. The statistics are presented in the following tables :

Table 1
Employment Levels in Poverty – 2009-10 (Number of Persons)

S.No.	States	Male		Female	
		All	15 yrs+	All	15 yrs+
1.	Andhra Pradesh	3743190 (47.52)	3689760 (72.30)	2834177 (32.73)	2753423 (47.53)
2.	Bihar	10164487 (42.15)	10049186 (75.23)	953730 (3.63)	941692 (6.46)
3.	Chhatisgarh	2546600 (46.00)	2543802 (72.13)	1768383 (32.30)	1797591 (52.17)
4.	Gujrat	2625870 (49.49)	2605152 (78.72)	1412605 (24.32)	1337663 (38.74)
5.	Haryana	713712 (39.52)	711149 (64.72)	241590 (12.61)	241590 (22.15)
6.	Himachal Pradesh	220326	220077	174226	173739

S.No.	States	Male		Female	
		All	15 yrs+	All	15 yrs+
		(48.95)	(76.16)	(33.15)	(51.26)
7.	Jammu& Kashmir	339761 (48.08)	339761 (73.33)	87339 (8.44)	87138 (12.91)
8.	Jharkhand	2371340 (42.55)	2339131 (76.89)	584550 (11.11)	574780 (19.75)
9.	Karnataka	2616565 (50.68)	2555236 (79.53)	1688081 (28.41)	1649732 (40.27)
10.	Kerala	861937 (39.46)	861937 (60.01)	336274 (12.67)	336274 (18.08)
11.	Madhya Pradesh	6221580 (46.65)	6163898 (77.24)	3128509 (22.03)	3100051 (37.0)
12.	Maharastra	4859401 (47.57)	4843146 (72.90)	3329177 (29.45)	3280808 (44.37)
13.	Punjab	734424 (42.21)	733055 (75.82)	210051 (10.94)	203847 (17.44)
14.	Orissa	3246108 (49.15)	3198385 (75.13)	1344102 (18.53)	1312339 (27.12)
15.	Rajasthan	3097061 (46.52)	3058639 (82.04)	1455675 (21.68)	1349275 (35.72)
16.	Tamil Nadu	2361642 (45.23)	2361645 (69.59)	1746802 (27.38)	1737265 (38.18)
17.	Uttrankhand	271994 (38.36)	270715 (67.04)	156276 (18.17)	155470 (31.13)
18.	Uttar Pradesh	12339664 (50.17)	12085304 (76.62)	2903959 (9.83)	2797291 (14.43)
19.	West Bangal	6037166 (50.17)	5885579 (76.62)	118047 (9.83)	1112504 (13.89)
	All India	69063370 (45.10)	68067587 (75.3)	25997765 (15.9)	25360096 (25.5)

Figures in parenthesis are percentages in row wise total.
Source : NSSO, Primary data – Derived using unit level data.

Table 2
Rural unemployment Rates*
(July2007-June2008,& July2009-June2010)

Per 1000 persons

status	unemployment Rates					
	2007-2008			2009-2010		
	Male	Female	persons	Male	Female	persons
Usual status -PS	23 (13)	19 (4)	22 (9)	19 (11)	24 (5)	21 (8)
Usual status (adjusted)	19 (11)	11 (3)	16 (7)	16 (9)	16 (4)	16 (7)
Current weekly status	41 (22)	35 (9)	39 (16)	32 (17)	37 (8)	33 (13)
Cuurent daily status	85 (45)	81 (17)	84 (31)	64 (35)	80 (16)	68 (25)

*According to usual status, currently weekly status (CWS) and current daily status (CDS)

SRF National & International Research Journal & Book Publication House, 320, Sewa path, Sangeevni Nagar, Garha, Jabalpur (M.P.)
Email Id:ijssmsjbp@gmail.com, srfjbp@gmail.com, www.srfresearchjournal.comPhone- 0761-4036611, Mo. 9993332299

Note- figures within brackets indicate the proportion of unemployment per 1000 persons/person weeks/person days. Source – GOI,NSSO, Employment and unemployment situation in India 66th Round (July2009-June2010).

CONCLUSION : Education and training are two of the most powerful weapons in the fight against rural poverty and for rural development. Unfortunately, these are also among the most neglected aspects of rural development interventions by national governments and by donors. Since the decade of the seventies, when there was considerable interest and investment in traditional agricultural education, new investments have been few and far between. There are a number of reasons for the declining interest in traditional agricultural education (including vocational education and training, higher education, research and extension). One of these was a false sense of complacency that arose when the famous green revolution appeared to offer limitless science-based solutions to the production of staple grains, especially rice and wheat. To a certain extent, the policy maker felt that agricultural education had solved the problem of food production and turned its attention to other seemingly more urgent challenges. The growth of urbanization and the change in the balance of Education for rural development: towards new policy responses political influence also saw policy makers become more attentive to urban issues than to education in rural areas.

REFERENCES

- Planning Commission :Govt. Of India, Eighth five year plan1992-97, Vol. I
- Planning Commission :Govt. Of India, Ninth Five year plan, 1998-2003 Vol. I
- Planning and Implementation of National Rural Employment Guarantee scheme in Madhya Pradesh A Process study.
- Puri, Mishra : "Indian Economy", Planning Commission : Govt. of India, Eighth five year plan 1992-97. Vol. I, Himalaya Publishing House,2007. , pg. 116 .
- Mehta Jaya and Shanta Venkataraman, "Poverty Statistics :Barmecide's Feast, " Economic and Political Weekly, July 2000.
- The World Bank, World Development Report 1984 (New Delhi, 1984)p.51
- Singh Ramesh : "Indian Economy", McGraw Hill Education (India) Private Limited, N.Delhi, 2014.

Sedition Laws in India, U.K and U.S.A- a comparative analysis

Awanish Kumar (Author), Guest Faculty Law Centre 1, University of Delhi
Pankaj Choudhary (Co Author), Assistant Professor, Campus Law Centre University of Delhi

The word sedition in its plain meaning denotes a tumult, an insurrection, a popular commotion, or uproar. It implies violence or lawlessness in some form. As per Black's law dictionary sedition means "an insurrectionary movement tending towards treason, but wanting an overt act, attempts made by meetings or speeches, or by publications, to disturb the tranquility of the state".

Sedition laws are part of a larger framework of colonial laws that are now used liberally by government to curb and suppress free speech, the specificity of these laws lie in the language of disaffection' and severity of the punishment associated with them. Sedition laws were used to curb dissent in England, but it was in the colonies that they assumed their most draconian form, helping to sustain imperial power in the face of rising nationalism in the colonies including India. Targets of this law included renowned nationalists like Mahatma Gandhi, Bal GangadharTilak and Annie Besant. It is ironic that these laws have survived the demise of colonial rule and continue to haunt media personnel, human rights activists, political dissenters and public intelectuals across the country.

The origin of Sedition can be traced back to English law. In England sedition is the offence of publishing, verbally or otherwise, any words or document with the intention of exciting disaffection, hatred, or contempt against the sovereign, or the government and constitution of the kingdom, or either house of parliament, or the administration of justice or of exciting his majesty's subjects to attempt, otherwise than by lawful means, the alteration of any matter in church or state, or of exciting feelings of ill will and hostility between different classes of his majesty's subject.

Sedition in England : In England sedition is a misdemeanor Common Law consisting of acts done, words spoken and published, or writings Capable of being a libel published, in each case, with a seditious intention which is the essence of the offence. Seditious intention has, in a series of decisions of the English Courts, been stated to be an intention to:

(1) to bring into hatred or contempt or to excite disaffection against, the King or the Government and Constitution of the United Kingdom or either House of Parliament or the administration of justice, or (2) to excite the King's subjects to attempt, otherwise than by lawful means, the alteration of any matter in Church or State by law established, or (s) to incite persons to commit any crime, in general disturbance of the peace, or (4) to raise discontent or disaffection amongst His Majesty's subjects, or (5) to promote feelings of ill-will and hostility between different classes of such subjects[15].

This rigour of the law was, however, mitigated by judicial pronouncements firmly laying down that an intention was not seditious if the object was to show that the King had been misled or mistaken in his measures or to point out errors or defects in the Government or Constitution with a view to their reformation, or to excite the subjects to attempt by lawful means the alteration of any matter in Church or State by law established, or to point out, with a view to their removal, matters which were producing or had a tendency to produce, feelings of hatred and ill-will between classes of the King's subjects.[16]

A recent major case in England relating to Sedition was the one involving the publication of Salman Rushdie's book, *The Satantic Verses (R v. Chief Metropolitan Stipendiary (Ex Parte Choudhury))*. This book was alleged to be a "scurrilous attack on the Muslim religion" and resulted in violence in the U.K. as well as to a severance of diplomatic relations between the U.K. and Iran. An application to obtain a summons against Mr. Rushdie and his publisher was dismissed, on the ground of non-

[15]Halsbury's Laws of England, vol. 9, Arts, 457 and 458 p. 302
[16]Halsbury, vol. 9 Art 458 p. 303

SRF National & International Research Journal & Book Publication House, 320, Sewa path, Sangeevni Nagar, Garha, Jabalpur (M.P.)
Email Id:ijssmsjbp@gmail.com, srfjbp@gmail.com, www.srfresearchjournal.comPhone- 0761-4036611, Mo. 9993332299

existence of seditious intent by either of the parties against any of the UK's democratic institution[17].

Sedition in India : In India the provision related to Sedition can be found under Indian Penal Code. The legal definition is given under section 124A of IPC as-

S. 124A – Sedition. – Whoever by words, either spoken or written, or by signs, or by visible representations or otherwise, brings or attempts to bring into hatred or contempt, or excites or attempts to excite disaffection towards the Government established by law in India, shall be punished with imprisonment for life, to which fine may be added, or with imprisonment which may extend to three years, to which fine may be added, or with fine.

Explanation 1 – The expression 'disaffection' includes disloyalty and all feeling of enmity.

Explanation 2 – Comments expressing disapprobation of the measures of the government with a view to obtain by lawful means, without exciting or attempting excite hatred, contempt or disaffection, do not constitute an offence under the section.

Explanation 3 – Comments expressing disapprobation of the administrative or other action of the Government without exciting or attempting to excite hatred, contempt or disaffection, do not constitute an offence under the section.

Interpretation of S. 124A by Indian Judiciary: – The interpretation of S. 124A has by no accounts been 'uniform' in any sense of the word before and after India gained independence. These varying interpretations have arisen out of the historical circumstances of the time.

[17] Clare Feikert-Ahalt, "Sedition in England: The Abolition of a Law From a Bygone Era", Library of Congress, October 2, 2012 available at: https://blogs.loc.gov/law/2012/10/sedition-in-england-the-abolition-of-a-law-froma-bygone-era/ (last visited on July 12, 2016).

Colonial Interpretation of S.124A: If one were to broadly differentiate the various interpretations of S.124A on the basis of the scope of the section under each interpretation of the words of the section, it could possibly be classified into two broad types. The first type would be the 'broad' or the 'wide' interpretation of the words of the section. It is 'wide/broad' in so far as it brought more acts within the scope of the offence of the section. It is this type interpretation that this section deals with.

The Tilak Case: –Perhaps the most famous case in this area is *Queen-Empress v. Bal GangadharTilak*. MrTilak, a famous figure in India's struggle for freedom was the editor of two journals. He published a column narrating the killing of a Mughal General, Afzul Khan by the maratha hero Shivaji and a poem entitled 'Shivaji's Utterances', among other works on the occasion of a commemorative festival. The relevant portion of the publication reads as follows –"What a desolation is this! Foreigners are dragging our Lakshmi violently by the hand by means of persecution; along with her plenty has fled and after that health also. This wicked misfortune personified stalks with famine through the whole country; relentless dearth moves about spreading the epidemics of disease do not circumscribe your vision like a frog in a well. Get out of the Penal Code, enter into the high atmosphere of the Shrimat Bhagawatgita and then consider the actions of great men."

Strachey, J. in his direction to the jury in this opined that that in order to satisfy the ingredient of disaffection the person must excite or attempt to excite and must make other people feel enmity of any kind against the Government. The amount of disaffection was not found to be absolutely immaterial in the decision, nor was it important whether any actual feelings of disaffection were created amongst the audience or not. The council held the direction of the judge to be correct and added that 'disaffection' did not mean 'absence of affection' in the literal sense. Thus the court interpreted the words of the section more or less literally. The courts of India adopted this literal interpretation of S. 124A, and this was the prevailing view for the first part of the 20th Century.

The decision of the court in Tilak's Case was subsequently followed in another famous decision *Annie Besant v. Advocate General of Madras*. This case dealt with S. 4(1) of the Indian Press Act that was framed similar to S. 124A. The relevant provision said that "any press used for publishing/printing newspaper, books, or other documents containing words, signs or other visible representations that had a tendency to bring into hatred or contempt His Majesty's government or any class of subjects (either indirectly or directly, by way of inference, suggestion, metaphor, etc.), would be liable to have its deposit forfeited". In this case an attack was levelled against the English bureaucracy. The Privy Council followed the earlier interpretation given by the Judicial Committee and the Bombay High Court in Gangadhar Tilak v. Queen Empress and affirmed the decision of the lower court confiscating the deposit of Besant's printing press.

Broad Interpretation of Section 124A IPC in Niharendu Dutt's Case: The so-called 'broad interpretation' of the meaning of sedition in the Indian Penal Code was, as has been stated earlier the prevailing view in Indian Courts. This trend continued till the landmark judgment of the Federal Court of India in 1942 in *Niharendu Dutt Majumdar v. Emperor*.

The case was decided in appeal from the Calcutta High Court. The accused (a member of the legislature) had made a certain speech against the Ministry and the Governor of Bengal against their acts and omissions in riots that had taken place in Dhaka. The speech upbraided the government for the alleged misuse of police forces and the governor for not fulfilling his responsibilities. The audience was made to believe that the government was encouraging communal disturbances and it was suggested that the ministry and the government should be made personally liable for the suffering of the victims. The accused was tried for the violation of Rules 34(6) (e) and (k) under the Defence of India Act, 1939.

The opinion of the court of whether the speech was seditious or not is best summed up in the words of ***Gwyer, CJ*** – "It is true that in the course of his observations the appellant indulged in a good deal of violent language and had worked himself up to such a state of excitement. The speech was as we feel bound to observe, a frothy and irresponsible performance, such as one would not have expected from a member of the Bengal Legislature, but in our opinion to describe an act of sedition is to do it too great an honour."

Indeed the learned Chief Justice of the Federal Court opined that violent words by themselves did not make a speech or written document seditious. According to the Court, the gist of the offence was public disorder, or the reasonable anticipation, or likelihood of public disorder, or must be of such intensity as to satisfy a reasonable man that that was the intention or tendency. The learned Chief Justice however did not refer to any of the decisions of the Privy Council while allowing the appeal of the accused. He justified his decision on the grounds that the interpretation of the words of the code must be in light of the changing circumstances and what was once seditious may not be considered to be seditious now.

Further In the case of *Ram Nandan v. State of U.P*[18]. The Hon'ble High Court held that section 124-A imposed restriction on the freedom of speech which is not in the interest of the general public and hence declared 124-A as ultra vires. But in the case of *Kedarnath Das v. State of Bihar*[19] the honourable Court held that Section 124-A is intra vires of the Constitution of India. The decision of the Hon'ble High Court was overruled by the Hon'ble Supreme CourtIn*KedarNath Singh's* Case, judges of the Supreme Court by a Constitution bench which made it clear that allegedly seditious speech and expression may be punished only if the speech is an 'incitement' to 'violence', or 'public disorder'. Subsequent cases have further clarified the meaning of this phrase. In *Indra Das v. State of Assam*[20] and *Arup Bhuyan v. State of Assam*[21] the Supreme Court unambiguously stated that only speech that amounts to "incitement to imminent lawless action" can be criminalised. The SC reiterated that all laws, including Section 124A, have to be "read in a manner so as to make them in

[18]1957 All LJ 773
[19] AIR 1962 SC 955
20 (2011) 3 SCC 380
21 (2011) 3 SCC 377

conformity with the Fundamental Rights".“Although according to the literal rule of interpretation we have to go by the plain and simple language of a provision while construing it, we may have to depart from the plain meaning if such plain meaning makes the provision unconstitutional".

In *Shreya Singhal v. Union of India*[22] the famous 66A of IT Act 2000 judgment, the Supreme Court drew a clear distinction between "advocacy" and "incitement", stating that only the latter could be punished.

"It is true that it is not sedition to criticize administrative machinery or the officers of government but where the speaker exceeds the limits of fair criticism and his object in attacking the existing government is to create disaffection the speech amounts to sedition.In cases under Section 124-A, I.P.C., the Courts have not to see the effect on the mind of the people and they are concerned with the construction of the speech, and the speech has to be taken as a whole and not just in pieces. A man may criticize or comment upon any measure or act of the Govt. and freely express his opinion upon it. [23] .Authorship of seditious material alone is not the gist of offence of sedition. Distribution, circulation of seditious material may also be sufficient as held in *Raghuvir Singh v. State of Bihar*.[24]The offence consists in exciting or attempting to excite in others certain bad feelings towards the Government. It is not the exciting or attempting to excite mutiny or rebellion, or any sort of actual disturbance great or small, Whether any disturbance or outbreak was caused by these articles, is absolutely immaterial, If the accused intended by the articles to excite rebellion of disturbance, his act would doubtless fall within section 124A, and would probably fall within other sections of the Penal Code. But even if he neither excited nor intended to excite any rebellion or outbreak or forcible resistance to the authority of the Government still if he tried to excite feelings of enmity to the Government that is sufficient to make him guilty under the section.

Therefore, advocating revolution, or advocating even violent overthrow of the State, does not amount to sedition, unless there is incitement to violence, and more importantly, the incitement is to 'imminent' violence. For instance, in Balwant Singh v. State of Punjab, the Supreme Court overturned the convictions for 'sedition', (124A, IPC) and 'promoting enmity between different groups on grounds of religion, race etc.', (153A, IPC), and acquitted persons who had shouted – "Khalistan zindabaad, Raj KaregaKhalsa," and, "Hinduan Nun Punjab Chon Kadh Ke Chhadange, Hun Mauka Aya Hai Raj Kayam Karan Da", late evening on 31 October 1984, i.e. a few hours after Indira Gandhi's assassination – outside a cinema in a market frequented by Hindus and Sikhs in Chandigarh.Thus, words and speech can be criminalised and punished only in situations where it is being used to incite mobs or crowds to violent action. Mere words and phrases by themselves, no matter how distasteful, do not amount to a criminal offence unless this condition is met.

Sedition laws in United States of America : United States of America criminalizes 'Seditious Activities and Speech'. Under Section 2385 of the US Code40[25], it is unlawful for anyone to knowingly teach/advocate the propriety of overthrowing the government by force. The U.S. government's first attempt at regulating speech in wartime resulted into the enactment of the Alien and Sedition Acts of 1798, the main purpose of which was to protect the nation from 'spies' or 'traitors'. The Alien Registration Act or the Smith Act of 1940 served the same purpose as the Act of 1918 and brought about 140 prosecutions. However, both these Acts have now been repealed.

In the case of *Yates v. United States*[26], the U.S. Supreme Court held that teaching an ideal, however unpopular or unreasonable it might be, does not amount to sedition. The decision in the case of *New York Times v. Sullivan*[27] was that the free criticism of public officials and public affairs would not constitute libel. In this context, it stated

[22] (2013) 12 SCC 73

[23]1962 SCR Supl. (2) 769

[24] AIR 1987 SC 149

[25] U.S. Code; Full text here: https://www.law.cornell.edu/uscode/text/18/2385 (last visited on February 21, 2017).

[26]354 U.S. 298.

[27]376 U.S. 254.

that the Sedition Act, 1798 had by "common consent" come to an "ignominious end", being a violation of the First Amendment. Finally, in 1969, in the case of *Brandenburg v. Ohio*[28], the law of Sedition was upheld. Hence, in the United States, the courts have generally afforded wide protection to political speech, excepting where it results in immediate lawless action.

Conclusion : While describing Section 124A Mahatma Gandhi in 1922 said "prince among the political sections of the Indian Penal Code designed to suppress liberty of the citizen." He further said that "Affection cannot be manufactured or regulated by law" but "Complete freedom is not feasible neither desirable".

No state can successfully argue that it is a completely independent sovereign or that its safety, or very being, does not depend on the security of the national government. India being a democratic county wherein the government is voted to power for the people, of the people and by the people" therefore there has to be a harmonious construction of sedition laws and individual liberty to exercise freedom of speech and expression and maintaining law and order in the country.

The Law Commission in its 42nd report had favoured amendments to Section 124 A . While it wanted the scope of actions that would be punishable under the clause to be widened, it wanted the punishment to be fixed at a maximum seven years and/or a fine. At present, a person convicted under the section can be sentenced to a prison term, either up to three years or for life — nothing in between! However, nothing was done to implement those recommendations.

As things stand today, while the Supreme Court has been consistent in what constitutes sedition, the subordinate courts have often strayed from the path.

The alleged seditious content should conform to certain specific parameters which would further act as a tool to preclude the arbitrary application of this vague law of Sedition.

In 2006, the 156th report of the Law Commission also sought substitution of the word 'sedition' but did not ask for its deletion.

"... reports and suggestions have come that there should be a comprehensive review of the criminal justice system in the country... sedition law has also been brought under this scrutiny, that there must be some amendment to it because the meaning is very wide," .

India being a developing state with multiple cultures, language and ethnic groups with heterogeneous society unlike USA and U.K which are homogeneous societies so making sedition laws redundant will not solve the problem. For the overall development of the citizen, free speech and expression is very important. But it is also important to maintain order; the very purpose of the state is to eliminate anarchy and to bring order. There are already internal checks within the law when it comes to sedition, even though they are absent in other domains where speech is criminalised. While one would hope for a repeal of these laws in the future, it is unlikely to happen, and it might instead be useful to consider at least procedural safeguards and systematic reforms that ensure these laws are not misused in a way that makes a mockery of our fundamental right to freedom of speech and expression. However State can restrict absolute freedom to secure the sovereignty and integrity of the Nation. Therefore abolition of sedition laws are neither required nor desirable but specific guidelines are needed to implement the law in certain situations.

.

[28]395 U.S. 444.

Globalisation and Social Security of Aged in India

Dr. Preeti
Assistant Proffessor, UILMS, Gurgaon.

Anthony Giddens (1990) describes globalisation as 'the intensification of worldwide social relations which link distant localities in such a way that local happenings are shaped by events occurring many miles away and vice versa'. Globalisation means world society without a world state and without world government.

Globalization is a complex phenomenon which includes increased human interconnectedness facilitated by new information technologies and huge volumes of trade,capital, people, cultures flowing across national borders, and an ever more integrated global economy (Powell, 2011).

Structural Adjustment Programmes and the Human Rights:

The structural adjustment lending programmes of IMF and World Bank and neoliberal ideology suggested that only the liberal market forces could help poor countries to grow and catch up the developed world (Babb, 2005). Abouharb and Cingranelli (2006) talked about the neoliberal and critical views of effects of structural adjustments on the human rights practices of governments. The neoliberal ideology favours that relatively limited governance reduces barriers to the functioning of free market, enhances individual opportunities and allow them to pursue their own interests. Rapid economic liberalization will promote economic development. The wealthier states are more likely to be democratic, and relatively high level of democracy is associated with a higher level of respect for most human rights including physical integrity rights. Hence SAA (Structural Adjustment Agreements) implementation should be an improvement in human rights practices. Whereas, Critical perspective says that the implementation of SAA has negative effects on government's respect for economic human rights as it almost always require reductions on government spending for social programmes such as health care, education, food, decent work and shelter etc. which promotes domestic conflict and further implementation of

repressive policies. These policies cause hardships, especially among the poorest citizens, who are most dependent on social programmes. However, economic liberalization that is not required by the conditions found within a SAA may not affect or may actually reduce domestic conflict in society.

Camp Keith and Poe evaluated the human rights effects of getting a SAA from the IMF by comparing the human rights practices of governments with and without these loans while controlling for other factors reliably associated with good or bad human rights practices by governments and found some evidence indicating an increase in the level of repression of physical integrity rights during the implementation of a SAA (Ritzer and Atalay, 2010:144). No matter how the structural adjustment intervention is operationalized, the net effects on government human rights practices are found to be negative (Abouharb and Cingranelli, 2006).

The contrary trends are important and require analysis in the framing and development of social theory and social policy in relation to ageing. Deacon (2000: 13), notes what appears to be the emergence of a 'new politics of global social responsibility'. He writes:

Orthodox economic liberalism and inhumane structural adjustment appear to be giving way to a concern on the part of the World Bank and the IMF with the social consequences of globalization. International development assistance is concerned to focus on social development. United Nations agencies are increasingly troubled by the negative social consequences of globalisation…[there is a shift] away from a politics of liberalism to a global politics of social concern.

Global Ageing:

Many less developed or Third World countries are experiencing rapid increases in the number and percentage of older people, often within a single generation. In response to this compression of ageing,

institutions must adapt quickly to accommodate a new age structure.Globalisation has also produced a distinctive stage in the social history of population ageing, with a growing tension between nation state-based solutions (and anxieties) about growing old and those formulated by global institutions. Some less developed nations will be forced to confront issues, such as social support and the allocation of resources across generations, without the accompanying economic growth that characterized the experience of ageing societies in the West. In other words, some countries 'may grow old before they grow rich' (Cook and Powell 2010).

Growing old has, itself, become relocated within a trans-national context, with international organizations (such as IMF and WB) and cross-border migrations, creating new conditions and environments for older people.Ageing can no longer just be viewed as a 'national' problem but one that affects trans-national agencies and communities. Local or national interpretations of ageing had some meaning in a world where states were in control of their own destiny (Estes, Biggs and Phillipson, 2003). They also carried force where social policies were being designed with the aim or aspiration of levelling inequalities, and where citizenship was still largely a national affair (and where there was some degree of confidence over what constituted 'national borders'). The crisis affecting each of these areas, largely set in motion by different aspects of globalisation, is now posing acute challenges for understanding 'global ageing' in the twenty-first century (Powell, 2011).

In 1990, fewer than one in ten elderly persons was age 85 or older. By 2045, the oldest old will be one in five. Increasing longevity and the steady movement of baby boomers into the oldest age group will drive this trend' (Longino, 1994: 856).

At the same time, the population of younger people under age 16 is also decreasing. As European countries reach a relatively high level of population ageing, the proportion of workers tends to decline. European countries, including France, Germany, Greece, Italy, Russia and the Ukraine already have seen an absolute decline in the size of their workforce. And in countries where tax increases are needed to pay for transfers to growing older populations, the tax burden may discourage future workforce participation. The impact on a Nation States gross domestic product will depend on increases in labour productivity and that State's ability to substitute capital for labour. Less developed countries can shift their economies from labour-intensive to capital-intensive sectors as population ageing advances century (Powell, 2011).

Globalisation and Issues in Critical Gerontology:

Critical gerontology reflects contributions from feminism, humanities, and neo-Marxist political economy (Cole et al., 1993; Arber & Ginn, 1996; Phillipson, 1998; Minkler & Estes, 1999). Critical gerontology is the idea of ageing as a socially constructed event (Vincent, 2003). In respect of political economy, this is seen to reflect the role of elements such as the state and economy in influencing the experience of ageing. In relation to the humanities, the role of the individual actively constructing his or her world is emphasised, with biographical perspectives highlighting the interplay between self and society (Keynon, 1996). The idea of *lives* as socially constructed is the key theme of critical gerontology, with different points of emphasis depending on the approach taken.

The approach to see the role of older people as cultural innovators and bearers of new life-styles has called into question many of the preoccupations of social gerontology, in particular its concern with the excessive power of the state, with problems of poverty, and with the alienation of older people. Gilleard & Higgs (2000:23) make this point as follows:

Orthodox social gerontology has treated later life as if it were constituted by inventories of social need and social exclusion. This is not how older people live and experience their lives. The growth of retirement as a third age - a potential crown of life - has been constructed primarily in terms of leisure and self-fulfillment. While these practices may be most fully enacted by a relatively small section of the population of older people, culturally this group represents the aspirations of many, whether or not they are able to realize such a lifestyle.

An appreciation of new lifestyles and consumerism in old age is certainly vital, the 'traditional' concern of gerontologists with social exclusion and social inequality remains difficult to avoid (Scharf et al., 2001; Agulnik et al., 2002). An external environment has brought radical changes to the lives of older people. Old age has been progressively displaced from the institutional framework created by retirement and the welfare state, and the associated idea of the generational contract (Phillipson, 2003). In its place have come multiple work-endings, the creation of welfare as a risk rather than a collective right, and the possibility of inter-generational

conflict (Phillipson, 1998). In sum, growing old is part of what theorists such as Beck (1992) and Giddens (1991) have termed the 'post- traditional society'.

Increasingly, old age is reconstructed as a phase in life negotiated by the individual, rather than an experience controlled by and developed through mass institutions such as the welfare state. Essentially, this concerns the change from the mass institutions which defined the first phase of ageing, to the more individualized structures - privatised pensions, privatised health and social care, targeted forms of social protection - which increasingly inform the second (Blackburn, 2002).

Aged in Globalised World:

Globalisation, it may be argued, exerts unequal and highly stratified effects on the lives of aged people (Yeates, 2001; Vincent, 2003). In the developed world, the magnitude and absolute size of expenditure on programmes for aged people has made these the first to be targeted with financial cuts (just as older people were one of the first beneficiaries of the welfare state). In less developed countries, aged (women especially) have been amongst those most affected by the privatization of health care, and the burden of debt repayments to the World Bank and the IMF (Estes & Phillipson, 2002).

Aged have also been affected by the way in which inter-governmental Organisations (IGOs) feed into what Estes et al. (2001) identify as the 'crisis construction and crisis management' of policies for the aged. Bob Deacon (2000) argues that globalisation generates a global discourse within and among global actors on the future of national and supranational social policy such as pensions. Yeates (2001) has observed that both the World Bank and the International Monetary Fund (IMF) have been at the forefront of attempts to foster a political climate conducive to limiting state welfare and promoting, instead, private and voluntary initiatives. The report of the World Bank (1994) *Averting the Old Age Crisis* has been influential in making the case for multi- pillar pension systems, and in particular for a second pillar built around private, non-redistributive, defined contribution pension plans. Holtzman (1997), in a paper outlining a World Bank perspective on pension reform, has argued for reducing state pay-as-you-go (PAYG) schemes to a minimal role of basic pension provision (Phillipson,2003).

This position has influenced both national governments and transnational bodies, such as the International Labour Organisation (ILO) (Gillion, 2000) concluded that investing in financial markets is an uncertain and volatile business: that under present pension plans people may save up to 30 per cent more than they need, which would reduce their spending during their working life; or they may save 30 per cent too little which would severely cut their spending in retirement.

Add in the crippling administrative charges associated with the running of private schemes, and the advocacy of market-based provision hardly seems as persuasive as most IGOs have been keen to suggest (Minns, 2001; Blackburn, 2002). (Vincent, 2003:86) goes on to conclude that:

The function of such arguments is to create a sense of inevitability and scientific certainty that public pension provision will fail. In so far as this strategy succeeds it creates a self-fulfilling prophecy. If people believe the 'experts' who say publicly sponsored PAYG systems cannot be sustained, they are more likely to act in ways that mean they are unsustainable in practice. Certainly, in Britain and elsewhere in Europe, the state pension is an extremely popular institution. To have it removed or curtailed creates massive opposition. Only by demoralising the population with the belief that it is demographically unsustainable has room for the private financiers been created and a mass pension market formed.

Welfare state and the Aged:

Increasingly, the social infrastructure of welfare states is being targeted as a major area of opportunity for global investors. The World Bank has expressed the belief that the public sector is less efficient in managing new infrastructure activities and that the time 'has come for private actors to provide what were once assumed to be public services' (Whitfield, http://www.centre.public.org.uk/briefings/pfi). This view has been strongly endorsed by a variety of multinational companies, especially in their work with the World Trade Organisation (WTO). The WTO enforces more than twenty separate international agreements, using international trade tribunals that adjudicate disputes. Such agreements include the General Agreement on Trade in Services

(GATS), the first multilateral legally enforceable agreement covering banking, insurance, financial services and related areas.

Aged people are also affected in different ways by inequalities in the global distribution of income. Wade (The Economist, April 28th, 2001, pp.93-97) comments here that:

It is remarkable how unconcerned the World Bank, the IMF and global organisations are about these trends. The Bank's ***World Development Report*** *for 2000 even said that rising income inequality "should not be seen as negative"... Such lack of attention shows that to call these world organisations is misleading. They may be world bodies in the sense that almost all states are members, but they think in state-centric rather than global ways.*

There are limitations of global institutions in their attempts to respond to population ageing. Two points might be made here: first, about the nature of what Amartya Sen (2000) refers to as the 'global architecture' represented by economic institutions such as the IMF, World Bank and OECD; and second, the democratic deficit of globalisation and possible responses to this.Sen (The Observer, 25 June, 2000) makes the point (in reference to the arrangements derived from the Bretton Wood Conference) that:

The world was, in fact, very different in the forties, when the bulk of Asia and Africa was still under colonial rule of one kind or another, when the tolerance of insecurity and of poverty was much greater…and when there was little understanding of the huge global prospects of democracy, economic development and human rights in the world.

The social and economic impact of population ageing had yet to appear on a world stage. Institutions apart, it is also clear that the neo-liberal consensus operating within globalisation has undermined effective responses to many of the social and economic problems facing aged people (Scholte, 2000). Indeed, neo-liberalism, as practised by dominant organisations such as the IMF and WB, has often intensified the difficulties facing aged people: for example, with pressures to privatize core public services; economic restructuring; and cuts to pensions (Estes & Phillipson, 2002).

In terms of the construction of social policy, this point may be illustrated in three ways: firstly, through the influence of globalisation on issues relating to citizenship and public policy; secondly, via the impact of global governance on the lives of aged people; thirdly, in the political changes needed to involve aged people and relevant NGOs in the development of a global social policy (Phillipson, 2003). Globalisation transfers citizenship issues to a trans-national stage, this process being driven by a combination of the power of inter-governmental structures, the influence of multinational corporations, and the pressures of population movement and migration. Alongside these developments come provocative questions about the nature of citizen- rights, and the determinants of the 'life chances' available to members of the global society-aged people in particular. Bauman (2001) and Beck (2001), argued that rights, in the period of late modernity, have become more fragmented as well as individualised. The new social construction (and contradiction) of ageing is, on the one hand, the focus upon growing old as a global problem and issue and, on the other, the individualisation of the various risks attached to the life course (Bauman, 2001).

Where the development discourse once focused on limiting social expenditure, it is now widely understood that social spending is actually necessary for growth. In the Conference report, the ILO's social security experts point out that well-designed social protection programmes, particularly in the form of social security pensions, rather than being a hindrance to economic development have proven "very effective in preventing poverty and social insecurity throughout an individual's entire life cycle"; moreover, they fulfill a vital role as an economic stabilizer.

There is need to recognize specifically the extent to which the ageing population have contributed in their younger days to the development of their countries, and ensure that these senior citizens live out their lives with dignity.

Family Support, Government Policies and Social Security of the Aged in India:

With the onset of modernization and globalisation, a chain of transformation has taken place in all social institutions of almost all the societies. The idea of global market with the exchange of goods, ideas, manpower and technology demands a geographic mobility of people in search of jobs and desire for new

exposures. Large-scale migration, easier transportation and faster communication at the macro level have influenced the social system. Migration of the younger members away from home affected the structure of the family. Women entering into the labour market require corresponding functional changes in the family. The Indian family is considered strong, stable, close, resilient, and enduring (Mullatti 1995). With the advent of urbanization and modernization, the ***modified extended family***has replaced the traditional joint family but in it also, many functional extensions of the traditional joint family have been retained (Chadha, http://www.un.org/esa/socdev/family/docs/egm12/CHADHA-PAPER.pdf).

The living arrangements for the aged are often considered as the basic indicator of the care and support provided by the family (Martin, 1988). However, it must be noted that this practice is more culture based rather than development dependent.The Indian culture has imbibed the right mix of western influence and yet maintaining the ethnic family tradition (Chadha ,http://www.un.org/esa/socdev/family/docs/egm12/CHADHA-PAPER. pdf). In many industrialized societies the family system is disorganizing leading to several other social problems. But the situation in India is different where the modern culture has not crashed down the social system as such. It is because of the bindings that exist within the family. This serves two purposes simultaneously, firstly, the problem of the care of the ageing population that threatens many societies is mellowed in India and secondly, at the same time childcare, another essential familial responsibility is taken up by the elders (Nalini, 1997).

Social security has been made the concurrent responsibility of the Central and State Governments. Article 41 of the Directive Principles of State Policy in the Indian Constitution,specifies that the State shall, within the limits of economic capacity, provide for assistance to the aged. The National Policy on Older Persons (Government of India, 1999) recognizes that older persons can render useful services in the family, community and society. It ensures the well-being of the aged in a holistic manner. The policy ensures to safeguard their interest in terms of financial security, health, legal, social and psychological security, also envisages a productive partnership with them in the process of development by creating opportunities for their gainful engagement and employment. The Policy also appreciates special needs of aged and therefore lays emphasis on empowerment of community as well as individuals to adequately meet the challenges of the poor people.

The goal of the policy is to provide affordable health services. In this process it envisages to have the cooperative efforts of the public health services, private health services and private medical care. The policy also proposes to develop educational and informational material relevant to the lives of older people such as the creative use of leisure; appreciation of art; culture and social heritage; skills in community work and welfare activities. Further, it will provide information about the process of ageing and the changing roles, responsibilities and relationships at different stages of the life cycle.

It believes in the development of social support system, informal as well as formal, so that the capacity of families to take care of older persons is strengthened and they can continue to live in their family.

Policies and programs introduced by the Government of India have received mixed feedback in terms of their advantages and limitations. The policies remain isolated from the psycho-social determinants of mental health and adjustment, affecting the Indian population. This observation is remarkably true for the aged population, living in both rural and urban areas and affecting both male and female aged residing in India. Inspite of such shortcomings, the acts and schemes have their own advantages. They have successfully highlighted the actual status of the aged in India, which requires immediate attention by demographers, psycho-gerontologists, gero-counsellors and social activists.

The main role of the state is planning, service regulation and increasingly monitoring for quality. As opportunities for exploitation by private profit making companies increase and competition for contracts derives down costs, there is a growing chance that vulnerable old men and women will be ill- treated or exploited by service providers in their own home (Wilson, 2000: 137).

The acts have a potential to act as silent killers to the Indian fabric system and can destroy the inter-dependence of grandchildren towards their children and vise versa. In place of realistically making children responsible for providing basic care and maintenance to their parents, the locus is more external, creating every possibility of the total breakdown of the act and the family systems.

The aged and their families rely on self help. In such circumstances, any service specifically for older people should include some form of income if it is to have a long beneficial effect (Tout, 1989). OCED (1996)

notes, the job opportunities produced by the growing needs of frail aged are substantial. In deprived areas where the aged has been left behind (depressed rural districts and inner cities) health and social care services may be the biggest local employers. Such benefits are often overlooked, both in economic terms and as aspects of solidarity which can bring young and old together in stressed communities.

References:

- Abouharb, M.R. and Cingranelli, D.L. (2006), "The Human Rights Effects of World Bank Structural Adjustment, 1981-2000"*International Studies Quartely*,50, pp.233-62.
- Agulnik, P., Burchardt, T., Evans, M (2002) 'Response and Prevention in the British Welfare State', in J. Hills, J. Le Grand and D. Piachaud (editors) *Understanding Social Exclusion.*Oxford: Oxford University Press.
- Arber, S. and Ginn, S. (1993) *Connecting Gender and Ageing.* Buckingham: Open University Press.
- Babb, S. (2005), "The Social Consequences of Structural Adjustment: Recent Evidence and Current Debates" *Annual Review of Sociology*, 31, pp 199-222.
- Bauman, Z. (2001), *Community: Seeking Safety in an Insecure World.* Oxford: Polity Press.
- Beck, U. (1992) *Risk Society.* London: Sage Books.
- Beck, U. (2001) *What is Globalization?* Oxford: Polity Press.
- Blackburn, R. (2002) *Banking on Death.* London: Verso Books.
- Cole, T., Achenbaum, W.A., Jakobi, P.L. and Kastenbaum, R. (1993), *Voices and Visions of Ageing: Toward a Critical Gerontology.* New York: Springer Publishing.
- *Cook, I.G. and Powell, J.L. (2007), New Perspectives on China and Aging. Nova Science: New York*
- Cook. I and Powell, J.L. (2010), *Aging in Asia*, Nova Science: NY
- Deacon, B. (2000) Globalisationand Social Policy: the Threat to Equitable Welfare, 5, *Globalism and Social Policy Programme*, GASPP.
- Estes, C. and Associates (2001) *Social Policy and Ageing.* Thousand Oaks: Sage
- Estes, C. and Phillipson, C. (2002) 'The Globalisation of Capital, The Welfare State and Old Age Policy', *International Journal of Health Services*, Vol. 32, No.2. pp. 279-297.
- *Estes, C., Biggs, S and Phillipson, C. (2003) Social Theory, Social Policy and Ageing. Open University Press: Milton Keynes*
- Wilson, G.(2000), *Understanding Old Age: Critical and Global Perspectives.* New Delhi: Sage Publications.
- Giddens, A. (1990), *The Consequences of Modernity*, Cambridge: Polity.
- Giddens, A. (1991), *Modernity and Self-Identity*, Cambridge: Polity Press.
- Gilleard, C and Higgs, P. (2000), *Cultures of Aging*. London: Prentice Hall.
- Gillon, C. et al. (2000) *Social Security Pensions: Development and Reform.* London: ILO.
- Help the Age International (2000) *The Mark of a Noble Society.* London: Help Age International.
- Holtzman, R.A. (1997),*A World Bank Perspective on Pension Reform.* Paper prepared for the joint ILO-OECD Workshop on the Development and Reform of Pension Schemes, Paris, December.
- International Monetary Fund (2006),*The Economics of Demographics. Finance and Development, September*; 43(3).
- Kenyon, G. (1996) 'Ethical Issues in Ageing and Biography', *Ageing and Society*, Vol. 16, No. 6, pp. 659-677.
- Longino, C. F. (1994). 'Pressure from our aging population will broaden our understanding of medicine'. *Academic Medicine, 72* (10), 841-847.
- Martin, Linda 1988. "The Aging of Asia", *Journal of Gerentology: Social Sciences*, 43(4):S 99.
- Minkler, M. and Estes, C. (1999) *Critical Gerontology: Perspectives from Political and Moral Economy.* New York: Baywood Publishing.

- Minns, R. (2001), *The Cold War in Welfare: Stock Markets Versus Pensions.* London: Verso.
- Mishra, R. (1999) *Globalization and the Welfare State.* Cheltenham: Edward Elgar.
- Mullatti, L. (1995). "Families in India: Beliefs and Realities." Journal of Comparative Family Studies 26:11–25.
- Nalini, B. (1997) "Structural Functional Changes and the Need for Grand Parental Support in Indian Families". Department of Sociology, Madurai Kamraj University, Madurai.
- OECD (1996), Caring for Frail Elderly People, *Social Policy Studies No. 19*. Paris: OECD.
- OECD (2007), Directorate for Employment, Labour and Social Affairs, *Disability Trends among Elderly People: Re-Assessing the Evidence in 12 OECD Countries* (Interim Report), Paris , France : OECD
- Phillipson, C. (1998). *Reconstructing Old Age*. London: Sage.
- Phillipson, C. (2003) 'Globalisation and the Future of Ageing: Developing a Critical Gerontology' *Sociological Research Online*, vol. 8, no. 4.
- Powell, J.L. (2011), *Aging and Globalization*, UK: Sincronía Fall.
- Ritzer,G. and Atalay, Z.(2010), Readings in Globalization: Key Concepts and Major Debates, UK:Wiley-Blackwell.
- Scharf, T., Phillipson, C., Smith, A. and Kingston, P. (2001) *Growing Older in Socially Excluded Areas.* London: Help the Aged.
- Scholte, J.A. (2000) *Globalisation: a Critical Introduction.* London: Palgrave.
- Sen, A. (2000) 'Freedom's market'. *The Observer*, 25 June.
- Tout, K.(1989), *Ageing in Developing Countries*, Oxford: Oxford University Press.
- Vincent, J (2003) *Old Age.* London: Routledge.
- Wade, R. (2001) 'Winners and Losers', *The Economist*, 28 April, pp. 93-97.
- World Bank (1994) *Averting the Old Age Crisis.* Oxford: Oxford University Press.
- Yeates, N. (2001) *Globalisation and Social Policy.* London: Sage.
- http://www.un.org/esa/socdev/family/docs/egm12/CHADHA-PAPER.pdf
- http://www.centre.public.org.uk/briefings/pfi

Appointment of scholars and professors of Law as Justice - the requisite intellectual restructuring

Pankaj Choudhary (Author),Assistant Professor, Campus Law Centre University of Delhi
Vinod Chauhan(Co Author),Assistant Professor, Campus Law CentreUniversity of Delhi

Introduction : Judiciary, the third pillar of democracy in India, has an unparalleled significance in maintaining the rule of the law in the nation. Its essential function is to uphold the supremacy of the Indian Constitution through interpretation and application of its provisions. The judiciary ensures justice to the common man by interpreting the 'meaning of law' and adjudicating the disputed cases. Jonathan Sacks had highlighted the importance of judiciary when he wrote that *"true freedom requires the rule of law and justice, and a judicial system in which the rights of some are not secured by the denial of rights to others"*. However, the existence and functioning of judiciary in India has not been unmarked by complexities and controversies. Issues of corruption, nepotism, backlog of cases, lack of transparency and others have always been the debate of the day.

Not only does the existence of judiciary but also the presence of an independent judiciary is crucial to the dispensation of justice. This ensures that judges shall be able to provide their judgements in the absence of any political or civil pressure. However, existence of an independent judiciary has always been a contentious issue between the judiciary and the executive. One of the major strands in this contention is over the appointment of judges to the Supreme Court and High Courts. This research paper seeks to investigate and understand the aforementioned issue drawing precisely on the concerns of the unusual case of non-appointment of any distinguished jurist as a Supreme Court judge in the history of 67 years of independent India. The paper, stressing the importance of distinguished jurists as a part of the judicial system, argues that their appointment as Supreme Court judges shall provide judiciary with another set of professionals with pronounced scholarship of law and would increase the purview of the already sitting judges. In order to support its argument, the paper shall also enunciate the procedures and cases of appointment of judges in some other developed nations of the world.

Appointment of judges to the Supreme Court in India

The Constitution of India has laid down the procedures for the appointment of judges to all the courts in India. Under Article 124 (3), the Constitution of India states that there are broadly 3 categories of people who are eligible to be appointed as judges to the Supreme Court - a High Court judge with 5 years of experience; an advocate in the High Court with 10 years of experience; a distinguished jurist (Ranjan, 2013). The initial two categories are self-explanatory. These refer to judges and advocates respectively who have been involved in litigation in their respective roles for a defined time period. However, the third category of a "distinguished jurist" has not been elucidated in the Constitution. This category has been concluded to refer to academic lawyers, scholars and professors of law who have challenged and expanded the existing frontiers of legal knowledge through their stupendous research and teaching (Ranjan, 2013). Mr. H.V. Kamath, member of the Constituent Assembly, while proposing the "distinguished jurist" category, said, on May 24, 1949: "The object of this little amendment of mine is to open a wider field of choice for the President in the matter of appointment of judges of the Supreme Court... I am sure that the House will realize that it is desirable, may [be] it is essential, to have men — or for the matter of that, women — who are possessed of outstanding legal and juristic learning. In my humble judgment, such are not necessarily confined to Judges or Advocates. Incidentally, I may mention that this amendment of mine is based on the provision relating to the qualifications for Judges of the International Court of Justice at The Hague" (Ranjan, 2013).

Significance of a 'distinguished jurist' on the Supreme Court bench

The roles and responsibilities of the Supreme Court include deciding on pertinent questions of law and developing novel principles of law and jurisprudence by interpreting the Indian Constitution and different statutes formulated by the Parliament and the State Legislatures. The skill and ability to theorise and interpret different concepts is extremely desirable for the judges sitting on the bench. The scholars of law have been trained in the aforementioned capacities through prolong and extensive research in their specific and specialised fields. Their evolved and nuanced faculties of formulating theories and concepts and further analysing and interpreting them would provide a cutting edge to the faculties of the bench of judges and shall further enhance the stature of legal reasoning.

The provision of technical members being included on the bench of judges in various tribunals in India that aimed to improve the "quality of adjudication" has been criticised by judges due to various reasons (qtd. in Prashant Reddy, 2011). One of the potent reasons for their vexation with the provision is due to the lack of legal knowledge of these technical (executive) members. Such criticism cannot hold in the case of the appointment of the 'distinguished jurist' for not only the concerned individual shall possess colossal knowledge of law but shall also hold a distinct kind of scholarly experience (that might also be endowed with inter-disciplinary knowledge) that shall enrich the capacity of the bench to contend for formidable legal reasoning.

It has been quite baffling to discern that since the drafting of the Indian Constitution, there has never been an appointment to the bench of the Supreme Court of a 'distinguished jurist'. The situation does not suggest lack of eminent scholars or professors of law in the country. There have been many eminent scholars such as Professor Upendra Baxi, Professor R. Venkata Rao, Professor M.P. Singh, Professor N.R. Madhava Menon, Professor Ranbir Singh and many others who have massively and potently contributed to the study of law. Professor Upendra Baxi had also once shared an anecdote from his life where he had been invited to the Buffalo University by being denoted as a judge. Later he found out that Justice P. N. Bhagwati had mentioned that he shall be appointed as a Supreme Court judge within four months and hence the organizers at Buffalo University felt that he was already a judge. The reasons that resulted in his not being appointed as a Justice seem unclear. In the similar vein, there are also many other distinguished jurists who could have played the role of judges but have been lost in time and space. The long years that the jurists have been ignored as potential judges of the Supreme Court of India, a stupendous opportunity to enhance the Indian law so as to be more progressive which shall further facilitate a fairer (to a certain extent with their different perspective been given space) dispensation of justice has also been overlooked.

The case of the developed nations

This section shall look at the procedure of appointment of judges to the courts of the two developed nations of the world i.e. The United States of America and Germany; both of which have provisions for the appointment of Professors of Law as judges to their courts.

The U.S. Constitution has established a federal system of government. It provides specific powers to the federal (national) government and some of the powers exclusively remain with the states. Each of the 50 states also has its own state constitution, governmental structure, legal codes, and judiciary. The U.S. Constitution establishes the judicial branch of the federal government and specifies the authority of the federal courts. Federal courts have exclusive jurisdiction over certain kinds of cases, such as those involving federal laws, controversies between states, and cases involving foreign governments. In certain other domains, federal courts share jurisdiction with state courts (Federal Judicial Center).

The President in the USA have the constitutional power to nominate Justice, and, in doing so, they employ various criteria at different times, including professional merit, ideological compatibility and many others (Dorsen, 2006). In the US Constitution, the Senate enjoys the authority to consent to or reject their appointees. There have been many law professors who have been appointed as judges to Supreme Court of the USA. Even the constituent assembly in India, during the debates around the drafting of the Constitution, mentions Felix Frankfurter who was appointed as an Associate Judge of the Supreme

Court of the USA in 1939 by the then President Franklin D. Roosevelt. Frankfurt was a Professor of Law at the Harvard Law School and did not his have any prior experience of a jurist. However, his clarity and intellectual faculty has made him one of the most reverend judges in the American history. He opined that "*for the highest tribunal of the land, a solid foundation of the highest juristic principles is no less important than mature experience of the procedure in Courts….the superior Judiciary in both France and West Germany is recruited exclusively from academic jurists, having no prior judicial experience at all"(*qtd. in Pathak). There have been various other judges as well who have worked as teachers of law before they took on the role of judges in America – Justice A.M. Kennedy, had been working as a Professor of Constitutional Law for 23 years before being appointed by President Reagan in 1988 and Justice R.B. Ginsburg had been teaching at the Columbia Law School for 17 years before he was appointed as an Associate judge (Mandhani, 2016).

The case of Germany

Germany has one Supreme Court that exclusively deals with constitutional questions. It is known as the German Federal Constitutional Court. There are five additional federal courts for other areas of law - the Federal Court of Justice for civil and criminal matters, the Federal Administrative Court, the Federal Labour Court, the Federal Social Court, and the Federal Fiscal Court. The judges who are chosen by the Parliament are elected without any prior debate through secret ballot upon a proposal of an electoral committee which is formed specifically for this purpose. To be elected, a Justice must obtain a two-thirds majority of the votes cast and at least a majority among the members of the Parliament. The justices who are chosen by the representation of the German states are also elected by a two-thirds majority. Unlike the Parliament, the representation of the German states does not form an electoral committee. The elected judges are appointed by the Federal President for a term of twelve years. There can be no other appointment of judges after the appointment has been made by the Federal Constitutional Court. In this procedure of the appointment of the judges in Germany, the independence of the judiciary seems to have been compromised with an excessive influence of the Parliament. However, a peculiar exception has been maintained that ensures the appointment of a law professor as a judge to the court (Gesly, 2016).

The Federal Constitutional Court of Germany that is divided into two separate senates of eight judges each has even had an equal representation of law professors as judges. Susanne Bear, a German legal scholar and Professor of public law and gender studies at Humboldt University in Berlin is currently one of the judges in the Federal Constitutional Court of Germany.

The cases of both, the USA and Germany suggest the acknowledgement of the importance of appointing scholars and teachers of law as judges to the courts. Such an organization of the bench also provides the space for a perspective rooted in a different socio-legal framework as compared to the perspective of other judges.

The state of contention between the Central Government and the Judiciary in India

The contention of the Union government and the judiciary over the issue of appointment of judges to the High Court and Supreme Court has been continuing for a long time. There have been several facets to this tug-of-war; however, the issue that this research paper seeks to get a finer grip on is associated with the differences between the two strands over the appointment of 'distinguished jurists' as Justices. As mentioned earlier, since the drafting of the Constitution of India, judiciary has not witnessed any appointment of judges to the Supreme Court from the third category of Article 124 (3) i.e. never has been a 'distinguished jurist' become a Supreme Court judge. The Central Government has called for the implementation of the above mentioned constitutional provision. The Centre had accused the collegiums system to prefer the judges of High Courts for the appointment to the bench of Supreme Court over the advocates of the High Courts with an experience of 10 years and the 'distinguished jurists'.

The Centre had also requested for a five-judge bench comprising Justice J. S. Khehar, Justice J. Chelameshwar, Justice Madan B. Lokur, Justice Kurian Joseph and Justice Adarsh K. Goel to introduce the specific criteria "*for appointment of members of bar and distinguished jurists to the Supreme Court and special emphasis placed on appointing judges from these categories given their historic under-representation"* (Mahapatra, 2015). The Central government laid emphasis on merit of

the individuals who should be considered the appointment as judges to the bench of Supreme Court. It also wanted to ensure that the mechanism of the selection process should entail transparency and accountability on the part of the selectors.

The differences between the government and the judiciary widened when the government proposed that up to three judges may be appointed from the Bar or from distinguished jurists with excellent track records. The proposal also recommended that the judges of the Supreme Court should be flexible to nominate individuals for these posts. However, the suggestions evoked the ire of judiciary that maintained that the restriction of "up to three" judges that might be appointed from the Bar as per the recommendation of the government restricted the intake from the Bar and also tends to fix a quota on the Bar. The judiciary held both these situations to be outside the purview of the constitutional framework. Subsequently, after sufficient consideration, the government agreed that fixing a limit on the intake of the judges from the Bar is not imperative as long as representation is assured (Bagriya, 2016).

Steps towards redressal of the issue

The reasons for sidelining the eminent scholars, writers and professors of law in being appointed as judges to the Supreme Court have not been quite clear. One of the reasons regarding their non-appointment has been accorded to their lack of "procedural know-how of the legal proceedings" (Pathak). However, the presence of various jurists who have proved to be excellent judges in various parts of the world contest and even to a large extent squander this line of argument. It also seems that the judiciary, in order to maintain its independence, does not want to let in individuals from different socio-legal background to enter its close knit circle. Although it is incredibly important to sustain the independence of judiciary, however, it is equally important to make certain changes in its system that can help raising the bar of legal reasoning by providing distinct perspectives on the law.

There is a need for a collaborative effort on the part of the Union Government and the judiciary to ensure that individuals from all the three categories that have been mentioned under Article 124 (3) should be provided with equal and fair opportunity to become Justices. There should also be an effective mechanism through which the appointment of 'distinguished jurists' which has been undermined for a long time should be compensated. With the appointment of these jurists to the Supreme Court, provisions might also be made in the Constitution and other statutes to facilitate the appointment of academic lawyers, scholars and professor of law in the High Courts as well.

Conclusion : The significance of a fair, efficient and independent judiciary for sustaining the law, keeping anarchy at bay and dispensing justice to the commoners is indubitable. With the pace at which the economy of the nation is continually developing, the society in India is also moving towards modernity and becoming progressive. In order to cope up with this exponential pace of change, socially and economically, the legal pillar of the country also needs to reformulate itself in several ways.

The appointment of eminent scholars and professors of law, trained at theorisation and conceptualisation, to the Supreme Court which is the appellate court that deals with enhancing legal reasoning and developing principles of law and jurisprudence shall bring a novel hue to the perspective of the judiciary. This intellectual restructuring shall facilitate Indian law to become more progressive, advanced and nuanced to deal with the complexities of legal cases that are continually ascending corresponding to the transitional period that the country is in. In order to realize the aforementioned state that shall further ensure justice to each citizen of the country, it is the pressing need of the time that the academicians and law professors should be allowed to contribute in a different role (as a Supreme Court judge), that in the words of Professor Upendra Baxi has been "wilfully squandered" (qtd. in Ranjan, 2013).

References :

Bagriya, A. (2016, November 29). Centre vs Judiciary: Key Reasons for Conflict Over ... from http://www.bing.com/cr?IG=43314BD006F740AAA80A6F61933AA208&CID=3BEF11EE2BD5653500521BDB2AE46418&rd=1&h=bE_PHG5qwien2hGdSybm5EMRhVMlfGIO76d_QXsZ5k8&v=1&r=http%3a%2f%2fwww.news18.com%2fnews%2findia%2fcentre-vs-judiciary-key-reasons-for-conflict-over-appointment-of-judges-1317298.html&p=DevEx,5064.1

Dorsen, N. (2006). The selection of U.S. Supreme Court justices. *International Journal of Constitutional Law*,*4*(4), 652-663. doi:https://doi.org/10.1093/icon/mol028

Gesley, J. (2016, March 3). How Judges Are Selected in Germany [Web log post].

fromhttps://blogs.loc.gov/law/2016/05/how-judges-are-selected-in-germany/

Mahapatra, D. (2015, November 11). Not one jurist as SC judge despite constitutional mandate: Centre. *Times of India*.fromhttp://timesofindia.indiatimes.com/india/Not-one-jurist-as-SC-judge-despite-constitutional-mandate-Centre/articleshow/49743022.cms?from=mdr

Mandhani, A. (2016, May 17). No 'distinguished jurist' in sight?

from http://www.livelaw.in/no-distinguished-jurist-sight/

Pathak, R. K. (n.d.). Distinguished Jurist: A Tale of a Failed Constitutional Experiment .

from http://rostrumlegal.com/distinguished-jurist-a-tale-of-a-failed-constitutional-experiment/

Ranjan, P. (2013, July 9). Wanted, an Indian Frankfurter. *The Hindu*.

from http://www.thehindu.com/todays-paper/tp-opinion/wanted-an-indian-frankfurter/article4896382.ece

Reddy, P. (2011, December 30). De-Coding Indian Intellectual Property Law [Web log post].From https://spicyip.com/2011/12/guest-post-state-of-tribunals-in-india.html

The U.S. Legal System: A Short Description [Advertisement]. (n.d.).

From http://www.fjc.gov/public/pdf.nsf/lookup/U.S._Legal_System_English07.pdf/$file/U.S._Legal_System_English07.pdf

भारत एवं मध्य भारत में दलित उत्थान हेतु किए गए प्रयास (ऐतिहासिक एवं आधुनिक परिप्रेक्ष्य में)

डॉ. जयश्री दीक्षित
प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष (राजनीति विज्ञान) हवाबाग महिला महाविद्यालय जबलपुर
करुणा मिश्रा
शोध–छात्रा रा.दु.वि.वि. जबलपुर

प्रस्तावना : प्राचीन और मध्यकालीन युग की तुलना में आधुनिक युग में अस्पृश्यता की समस्या जटिल हो चुकी हैं। आजकल इन जातियों को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है पहले इन लोगों को अछूत शब्द से संबोधित किया जाता था। उसके बाद उन्हें दलित वर्ग में सम्मिलित कर दिया गया। इस शोध–पत्र के माध्यम से अधिकांशतः ऐतिहासिक काल में; भारत, विशेषतः मध्यप्रदेश व छत्तीसगढ़ में दलित उत्थान हेतु किये गये प्रयासों एवं शासकीय प्रावधानों को उदाहरणस्वरूप समक्ष रखकर लघु अध्ययन का प्रयास किया गया है।

स्वतंत्रता के पूर्व दलित उत्थान हेतु किये गये प्रयास

1935 में डॉ. अम्बेडकर और महात्मा गांधी के प्रयत्नों से इन वर्गो की एक अनुसूची तैयार की गई, तब भारत के संपूर्ण अस्पृश्य वर्गो को अनुसूचित कहा गया। इनमें वन्य जातियां और हरिजन भी सम्मिलित है। वर्तमान युग में हरिजन कल्याण के संबंध में गांधी जी के विचार सर्वाधिक सारगर्भित है। हरिजन कल्याण के संबंध में गांधी जी ने स्पष्ट लिखा है कि 'अस्पृश्यता जिस प्रकार व्यवहार में लायी जाती है, हिन्दुत्व पर सबसे बड़ा कलंक है, यह शास्त्रों के विरुद्ध है। गांधी जी ने हिन्दू धर्माधिकारियों को आह्वान करते हुए लिखा 'उस जाति और धर्म का नामो निशान इस दुनिया से मिटे बिना नहीं रहेगा, जो अन्याय, असत्य और हिंसा पर श्रद्धा रखता है।' इन विचारों की पुष्टि के लिए उन्होंने एक संघ की स्थापना की जो 'हरिजन सेवक संघ' कहलाया।

गुरू घासीदास द्वारा निर्गुण भक्ति शाखा के अंतर्गत् सतनाम सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण ये सतनामी कहे जाते हैं। इस समाज के लोग मूलतः छत्तीसगढ़ के ग्राम्य अंचलों में रहने वाले कृषक एवं कृषिकर्म पर आश्रित मजदूर वर्ग के लोग हैं। इस पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि सतनामी कहे जाने वाले हरिजनबहुल अनेक गांवों में उनके द्वारा शालाएं स्थापित की गई। इनके द्वारा स्थाति शालाओं में सवर्ण व हरिजन वर्गो के छात्र साथ–साथ शिक्षा ग्रहण करते थे। शैक्षणिक व्यवस्था के अंतर्गत दोनों वर्गो के मध्य व्यवहार में कोई भेद नहीं किया जाता था। इस तरह प्राथमिक स्तर के बालकों के ह्रदय में व्यवहाकि धरातल पर ऊँच–नीच एवं छुआछूत की भावना को शिथिल करने हेतु जो कार्य किया गया वह दूरगामी सिद्ध हुआ।

ठक्कर बापा ने महाकोशल प्रांत में गांधी जी के प्रवास संबंधी कार्यक्रम निर्धारित करने तथा उसे सफल बनाने और हरिजन सेवा कोष के लिए निर्धारित राशि संग्रहण करने का प्रमुख दायित्व पंडित रविशंकर शुक्ल को सौंपा। गांधी जी के प्रवास को सफल बनाने में शुक्ल जी की महत्वपूर्ण भूमिका रही। उल्लेखनीय है कि हरिजनों को समाज में समानता का अधिकार दिलाने के लिए मंदिरों का द्वार अन्त्यजों के लिए खुलवाना गांधी जी के छत्तीसगढ़ प्रवास से संबंद्ध महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना रही है। पंडित सुंदरलाल शर्मा के साथ जैतूसाव मंदिर, दूधाधारी मंदिर तथा राजीव लोचन मंदिर जैसे क्षेत्र के प्रमुख देव स्थलों में हरिजनों को पूजा अर्चना का अधिकार बिना किसी विशेष प्रतिरोध के उपलब्ध कराना उनकी प्रशंसनीय उपलब्धियां रही हैं।

महात्मा गांधी का अखिल भारतीय हरिजन संघ दौरा कार्यक्रम 8 नवम्बर 1932 को नागपुर से आरम्भ हुआ। पंडित शुक्ल अपने अनेक सहयोगियों के साथ इस महान अवसर पर नागपुर में उपस्थित हुए। हरिजन कोष हेतु शुक्ल जी के प्रयासों के कारण साढ़े चौदह हजार रूपये रायपुर जिले से एवं समस्त महाकौशल से चौदह हजार रूपये की निधि गांधी जी को अर्पित की गईं।

हरिजन सेवक संघ के विभिन्न कार्यक्रमों को सफल बनाने के लिए शुक्ल जी जीवन पर्यन्त ठक्कर बापा के निर्देशों का पालन करते रहे और मध्यप्रांत तथा बरार के प्रधानमंत्री एवं स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् मध्यप्रांत के मुख्यमंत्री के रूप में हरिजनों के सर्वागीण

अभ्युत्थान हेतु शुक्लजी ने सुविचारित एवं योजनाबद्ध ढंग से कार्य किया।

अतः स्पष्ट है कि अस्पृश्य समाज का भारतीय समाज में कोई अच्छा स्थान नहीं रहा। वे छुआछूत के घोर अंधेरे में डूबे हुए थे, हीनता के कारण उनका जीवन स्तर निम्न था तथा अज्ञानता, भूखमरी एवं अशिक्षित होने के कारण उपेक्षित भी, गांधी जी के विचारों से प्रभावित होकर पंडित शुक्ल का भी ध्यान आकृष्ट हुआ, वे उन्हें समाज में प्रतिष्ठित करने के लिए आतुर हो उठे।

स्वतंत्रता के पश्चात् दलित उत्थान हेतु किये गये प्रयास

स्वैच्छिक संगठन पर्यावरण, स्वास्थ्य, शिक्षा, शांति, मानवाधिकारों, उपभोक्ता अधिकारों, महिलाओं एवं दलित लोगों के अधिकारों, यहां तक की परिवर्तन के छोटे से छोटे क्षेत्र में भी सक्रिय हैं। देश के अनेक स्वैच्छिक संगठनों ने 1980 से सामाजिक कार्रवाई का एक वैकल्पिक दृष्टिकोण अपनाया है। ये संगठन गरीबी के मुद्दे का राजनीतिकरण कर सरकार द्वारा स्थापित अनेक सामाजिक कार्यक्रमों को चुनौती देने का काम कर रहे हैं और इस प्रकार उनके विरूध संघर्ष कर रहे हैं। स्वैच्छिक संगठन बाढ़, सूखा, भूकंप और महामारी जैसी प्रकृति आपदाओं के बाद राहत और पुनर्वास के कार्य में अग्रणी भूमिका निभाते रहे हैं। इस संदर्भ में सरकार भी उनकी भूमिका को महत्वपूर्ण मानती है।

74वे संविधान संशोधन के माध्यम से यह प्रयास किया गया कि समाज के कमजोर, वंचित, पिछड़े, दलित एवं शोषित वर्गों की शासन व्यवस्था में भागीदारी सुनिश्चित की जा सके। इस संविधान संशोधन में इन समूहों को उनके अधिकारों के प्रति जागरूकता और शिक्षा द्वारा प्रेरण के माध्यम से उनकी क्षमता में वृद्धि करते हुए उन्हें सामर्थ्यवान बनाने की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

74वें संविधान संशोधन के अंतर्गत समाज के दलित वर्ग की भागीदारी नगर निगम में आवश्यक होगी। प्रत्येक नगर पालिका में अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित रहेंगे। इन आरक्षित स्थानों की कुल संख्या के कम से कम एक तिहाई स्थान, यथास्थिति, अनुसूचित जाति व जनजातियों की स्त्रियों के लिए आरक्षित होंगे। अतः स्पष्ट है कि दलित वर्ग की महिलाओं का पूरा–पूरा ध्यान रखते हुए उनकी भागीदारी सुनिश्चित की गई है।

इस संशोधन के द्वारा समाज के कमजोर, वंचित, दलित एवं शोषित वर्गो को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक एवं शिक्षित कर उनकी क्षमता बढ़ाकर उन्हें सामर्थ्वान बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। इस प्रकार 74 वें संविधान संशोधन के प्रावधानों का अध्ययन करने के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि इसमें कमजोर, दलित एवं पिछड़े वर्गों को ऊपर उठाने के लिए आरक्षण का प्रावधान तो किया गया है, किन्तु इन वर्गो को शिक्षा देने की बात या पद प्राप्त करने के लिए शिक्षित होना आवश्यक है, जो प्रावधानों में कहीं नजर नहीं आती है। शिक्षा के अभाव में यह वर्ग निर्वाचित होने के बाद अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों का निर्वहन भली–भाति नहीं कर सकते, शिक्षा के अभाव में ऐसा वर्ग प्रशासनिक अधिकारियों के साथ सामंजस्य एवं तालमेल नहीं बिठा सकता।

हमारे देश में सफाई का दायित्व एक वर्ग विशेष तक सीमित कर दिया गया है। इतना ही नहीं स्वच्छता कर्म को हेय और छोटा माना जाता है। सिर पर मैला ढोने का अभिशाप कर्म इसी समुदाय के लोगों की नियति है। यह समुदाय सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से दलित और उपेक्षित है।

सफाई कर्मचारियों के हितों तथा अधिकारों का ध्यान रखने के उद्देश्य से 1993 में राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी आयोग का गठन किया गया है। सफाई कर्मचारियों में महिलाओं और पुरुषों का अनुपात लगभग आधा–आधा है। सफाई व्यवसाय में विशेषकर घरों में की जाने वाली सफाई प्रक्रिया में महिलाओं की हिस्सेदारी अन्य किसी भी व्यवसाय से अधिक है। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए 2003 में 'महिला समृद्धि योजना' को प्रारम्भ किया गया है। इस योजना के तहत मैला ढोने वाली महिलाओं और उनकी बेटियों को केवल एक प्रतिशत ब्याज दर पर 25,000 रूपये का ऋण दिया जाता है, जिससे वह अपना स्वयं का रोजगार प्रारम्भ कर सके। साथ ही सरकार के द्वारा प्रशिक्षण सुविधाएँ भी प्रदान की जाती हैं और मैला ढोने वाले परिवारों में जागरुकता तथा चेतना उत्पन्न करने के लिए उनकी बस्तियों में नियमित रूप से जागरूकता शिविर लगाए जाते हैं और समय–समय पर गोष्ठियाँ व कार्यशालाएँ आयोजित की जाती हैं। सरकारी अनुमानों के अनुसार देश में मैला ढोने वालों और उनके परिजनों की कुल संख्या 7,70,000 से अधिक है और लगभग 4,28,000 व्यक्तियों को एन.एस.एल.आर.एस. योजना का लाभ मिल चुका है, किन्तु इस दिशा में अभी काफी कार्यदेश है। सफाईकर्मियों की मुक्ति और पुनर्वास की दिशा में यह कहना समीचीन होगा कि स्वच्छता के

काम को एक समुदाय विशेष से जोड़कर चलने की प्रवृत्ति से हमारा समाज जितना जल्दी मुक्त होगा उतनी तीव्रगति से देश की स्वच्छता व्यवस्था दुरुस्त होगी और मैला ढोने की अमानवीय प्रथा से देश को छुटकारा मिलेगा। जाति आधारित विभाजन आधुनिक अर्थव्यवस्था में एकदम बेमानी है और यह केवल दलित वर्गों के लिए ही नहीं अपितु समूचे देश के लिए हानिकारक है। वैश्वीकरण के दौर में श्रम सम्बन्धों का पुनर्विभाजन होना अनिवार्य है और इसी में सफाईकर्मियों की मुक्ति तथा सामाजिक की किरण भी दिखाई देती है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि देश एवं मध्य भारत में ऐतिहासिक काल एवं आधुनिक समय में भी दलित उत्थान हेतु प्रयास तो किये गये हैं, परंतु अभी वे अपर्याप्त हैं और इस क्षेत्र में अभी और कार्य किया जाना आवश्यक है।

संदर्भ

- गोयल द्वारिका प्रसाद, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, कैलाश पुस्तक सदन, ग्वालियर, 1980
- Gandhi M.K. (Translation by - Mahadeo Bhai Desai) - The Selected Works of Mahatma Gandhi, Part-2 (An Autobiography), Navjeevan Prakashan Mandir, Ahmedabad, 1968
- शुक्ल अभिनंदन ग्रंथ, जीवनी खण्ड, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागपुर, 1955
- नन्होना आर.सी., ''सुशासन'', प्रशासनिक अकादमी, भोपाल, 2003.
- अनुच्छेद 243 (न) (1), अनुच्छेद 243 (न) (2), अनुच्छेद 243 (न) (3), 74 वाँ संविधान संशोधन अधिनियम
- सेतिया, सुभाष (2008), ''सफाई कर्मियों का पुनर्वास'', योजना पत्रिका, योजना भवन, नई दिल्ली

Consumer Buying Behaviour

Taruna Tokas
Assistant Professor, Department of commerce, Sirifort College of Computer Technology and Management, Rohini, Delhi - 1100.

ABSTRACT: Consumer buying behavior is the sum total of a consumer's attitudes, preferences, intentions, and decisions regarding the consumer's behavior in the marketplace when purchasing a product or service. In Present Marketing Scenario, the Study of Consumer Behavior has become essential. Consumers are the kings of markets. Without consumers no business organization can run. All the activities of the business concerns end with consumers and consumer satisfaction. Customer behavior study is based on consumer buying behavior, with the customer playing the three distinct roles of user, payer and buyer. Consumer buying behaviour has become an integral part of strategic market planning. In order to develop a framework for the study consumer behaviour it is helpful to begin by considering the evolution of the field of consumer research and the different paradigms of thought that have influenced the discipline. As described in this article, a set of dimensions can be identified in the literature, which can be used to characterize and differentiate, the various perspectives on consumer research. It is argued that consumer behaviour itself emerged as a distinct field of study during the 1960s; and is characterized by two broad paradigms, the positivist and the non-positivist. The positivist paradigm encompasses the economic, behavioural, cognitive, motivational / trait / attitudinal, and situational perspectives; these perspectives are referred to as the traditional perspectives as they pre-date the development of the non-positivist paradigm. The positivist paradigm, which is still the dominant paradigm, emphasizes the supremacy of human reason and that there is a single, objective truth that can be discovered by science. The opposing, non-positivist paradigm, envelops the interpretive and postmodern perspectives, which have emerged more recently during the period post-1980 to date. The rational view and the ideology of a homogenous social culture and thereby deny the complex social and cultural world in which consumers live. The traditional, positivist perspective takes a very utilitarian approach to the benefits from consumption. While the non-positivist perspectives place much greater emphasis on the symbolic dimensions of choice. The objective of non-positivist research endeavour is to achieve a better understanding of consumer behaviour with no specific intent to influence consumer processes. This article aims to identify different streams of thought that could guide future consumer research.

Keywords: *Consumer Buying Behaviour, Traditional Perspectives, Rational Perspectives, Cognitive, Traits*

INTRODUCTION TO CONSUMER BEHAVIOUR

Consumer behaviour has been always of great interest to marketers. The knowledge of consumer behavior helps the marketer to understand how consumers think, feel and select from alternatives like products, brands and the like and how the consumers are influenced by their environment, the reference groups, family, and salespersons and so on. A consumer‟s buying behavior is influenced by cultural, social, personal and psychological factors. Most of these factors are uncontrollable and beyond the hands of marketers but they have to be considered while trying to understand the complex behavior of the consumers. Consumer is the study "of the processes involved when individuals or groups select, purchase, use, or dispose of products, services, ideas, or experiences to satisfy needs and desires" (Solomon 1995, 7). In the marketing context, the term „consumer " refers not only to the act of purchase itself, but also to patterns of aggregate buying which include pre-purchase and post-purchase activities. Pre-purchase activity might consist of the growing awareness of a need or want, and a search for and evaluation of information about the products and brands that might satisfy it. Post-purchase activities include the

evaluation of the purchased item in use and the reduction of any anxiety which accompanies the purchase of expensive and infrequently-bought items. Simple observation provides limited insight into the complex nature of consumer choice and researchers have increasingly sought the more sophisticated concepts and methods of investigation provided by behavioural sciences in order to understand, predict, and possibly control consumer behaviour more effectively. This article presents a review of the literature, in the field of consumer buying behaviour. The first section, describes, the importance of various factors including lifestyle and its impact on the consumer buying behavior. The second section describes the dominant, positivistic consumer perspectives. The third section, presents a methodological and analytical overview of the traditional perspectives. The remainder of this section is devoted to presenting the highlights of the debate between the recent non-positivist perspectives and the traditional positivist-based approaches. This discussion surrounds the issues of fundamental assumptions and techniques of analysis of various alternative modes of enquiry. The main purpose of this article is to identify different streams of thought that could help and guide for future consumer researchers.

CONSUMER PERSONALITY FACTORS

There are two factors mainly influencing the consumers for decision making: Risk aversion and innovativeness. Risk aversion is a measure of how much consumers need to be certain and sure of what they are purchasing (Donthu and Gilliland, 1996).Highly risk adverse consumers need to be very certain about what they are buying. Whereas less risk adverse consumers can tolerate some risk and uncertainty in their purchases. The second variable, innovativeness, is a global measure which captures the degree to which consumers are willing to take chances and experiment with new ways of doing things (Donthu and Gilliand, 1996).The shopping motivation literature is abound with various measures of individual characteristics (e.g., innovative, venturesome, cosmopolitan, variety seeking), therefore, innovativeness and risk aversion were included in this study to capture several of these traits. Measures by Donthu and Gilliland (1996) were used to measure innovativeness and risk aversion.

CONSUMER PERCEPTION FACTORS

Perception is a mental process, whereby an individual selects data or information from the environment, organizes it and then draws significance or meaning from it.

PERCEIVED FIT

Perceived fit is an attitudinal measure of how appropriate a certain channel of distribution is for a specific product .Morrison and Roberts (1998) found that consumer‟s perception of the fit between a service/product and a channel is very influential in determining whether they will consider using that channel for a specific service. In fact, perceived fit was found to be more important than consumers preferences for the distribution method or service.

QUALITY

It is our aim to provide the best product for the consumer and we believe that if the products have quality the consumer will pay the price, says Amal Pramanic, regional business director. Oral-B

PACKAGING

Packaging establishes a direct link with the consumers at the point of purchase as it can very well change the perceptions they have for a particular brand. A product has to draw the attention of the consumers through an outstanding packaging design. Earlier packaging was considered only a container to put a product in, but today, research in to the right packaging is beginning at the product development stage itself. Packaging innovation has been at the heart of Dabur‟s attempt to rap with the urban consumers. It spends large sums annually on packaging research. -“We have been laying emphasis on aesthetics, shelf appeal and convenience for consumer‟” says Deepak Manchandra, manager packaging development.

PROMOTION

The greatest challenge faced by companies today is holding and increasing their market share and value. This is always a strenuous exercise and one of the tools for the same is marketing. There is no specific game rule available for using these marketing tools .The reason is: each promotional tool has its own characteristics.

FAMILIARITY WITH A CHANNEL

Consumer‟s familiarity with a channel is a measure of the general experience they have with purchasing products through specific channels (i.e.. catalog, internet, and bricks-and-mortar retailer). Through frequent use consumers should become accustomed to using the channel which reduces their apprehension and anxiety in purchasing products through the channel.

BRAND AWARENESS

According to Rossiter and Prey (1987), brand awareness precedes all other steps in the buying process. A brand attitude cannot be performed, unless a consumer is aware of the brand. In memory theory, brand awareness is positioned as a vital first step in building the bundle of associations which are attached to the brand in memory (Stokes, 1985).

FAMILY INFLUENCE

A family exerts a complex influence on the behaviors of its members. Prior family influence research has focused on intergenerational rather than intergenerational influence in consumer generationalisation. As has been compellingly demonstrated, parents influence children. Yet, consumption domains clearly exist where sibling efforts may also be exerted.

SHOPPING MOTIVES

Shopping motives are defined as consumer's wants and needs as they relate to outlets at which to shop. Two groups of motives, functional and non-functional, have been proposed by Sheth (1983). Functional motives are associated with time, place, and possession needs and refer to rational aspects of channel choice. Whereas non-functional motives related to social and emotional reasons for patronage. The functional motives included: convenience, price comparison, merchandise assortment. The non-functional motives entail: recreation.

THE TRADITIONAL PERSPECTIVES ON CONSUMER RESEARCH

This section outlines the perspectives that emerged during the traditional-positivist era in consumer research. Thus, a brief discussion on the early models of buyer behaviour, proposed by economists is presented, followed by a discussion on each of the traditional perspectives in consumer research that emerged thereafter. These are the behavioural, cognitive, trait, motivational, attitudinal, and situational viewpoints. Overall, the objective of this section is to outline the features and the central arguments of each of these perspectives. While a detailed analytical review of the paradigms is presented in section two, at this stage it is worth noting, that the traditional perspectives while diverse with respect to the many aspects of consumer behaviour they investigate, are fundamentally similar in terms of their philosophical and methodological bases for undertaking the examination of consumer issues. That is, they are built on the common foundations of "rationalism" and share allegiance to the principles of a single traditional, positivist-based approach to consumer research.

THE RATIONAL PERSPECTIVE

The economists were the first to dominate model building, in the area of buying behaviour. The early economic view considered consumer behaviour in terms of a single act of purchase itself, and post-purchase reactions. Economic theory holds that purchasing decisions are the result of largely "rational" and conscious economic calculations. Thus, the individual buyer seeks to spend his income on those goods that will deliver the most utility (satisfaction) according to his tastes and relative prices. The antecedents of this view can be traced back to Adam Smith (1776). Alfred Marshall (1890) consolidated the classical and neoclassical traditions in economics, into a refined theoretical framework which came to be known as the theory of marginal utility. His theoretical work aimed to simplify assumptions and thereby examine the effects of changes in single variables (e.g., price) holding all other variables constant. While economic models such as the Marshallian theory of "marginal-utility" are useful to the extent that they provide behavioural hypotheses (e.g., the lower the price of a product the higher the sales), the validity of these hypotheses does not rest on whether all individuals act as calculating machines in making their purchasing decisions. For example, Eva Muller (1954) reported a study where only one-fourth of the consumers in her sample bought with any substantial degree of deliberation. The Marshallian model ignores the fundamental question of how product and brand preferences are formed. Several studies have identified the impacts

of price differentials on consumers‟ brand preferences; changes in product cues on demand variations; changes in price on demand sensitivity; and scarcity on consumer choice behaviour amongst many others (Lewis et al. 1995).

THE BEHAVIOURAL PERSPECTIVE

As mentioned above, in contrast to the economic view which underscores the importance of internal mental processes in consumer decision making, the behavioural perspective emphasizes the role of external environmental factors in the process of learning, which it is argued causes behaviour. Thus, the behaviourists approach the consumer, as a "black box" and thereby assume that consumer behaviour is a conditioned response to external events. The behavioural perspective therefore focuses on external environmental cues (such as advertising) that stimulate consumer response through learning. The strategic emphasis, of the behavioural modification theories, for example, are to devise a set of expanded behaviour modification techniques (e.g., respondent conditioning; operant conditioning; vicarious learning etc.) that can be used to influence, modify, and control consumer behaviour (Peter and Nord 1982). While a number of researchers have proposed models to study learning principles e.g., Thorndike (1911); Watson and Rayner (1920), this view is represented by two major approaches to learning: classical conditioning and instrumental learning. Classical conditioning occurs when a stimulus that elicits a response is paired with another stimulus that initially does not elicit a response on its own. Over time, this second stimulus causes a similar response because it is associated with the first stimulus.

The theory of classical conditioning is rooted in Pavlov‟s research on digestion in animals. Pavlov induced classically conditioned learning by pairing a neutral stimulus (a bell) with a stimulus known to cause a salivation response in dogs (dried meat powder). The powder was an unconditioned stimulus (UCS) because it was naturally capable of causing the response. Over time, the bell became a conditioned stimulus (CS) resulting in a conditioned response (CR). Thus, conditioned effects are more likely to occur after the conditioned and unconditioned stimuli have been paired a number of times. The basic form of classical conditioning demonstrated by Pavlov primarily applies to responses controlled by the autonomic (e.g., salivation) and nervous (e.g., eyeblink) systems. That is, it focuses on visual and olfactory cues that induce hunger or thirst. When these cues are consistently paired with conditioned stimuli, such as brand names, consumers may learn to be hungry or thirsty, when later exposed to brand cues. Classical conditioning can have similar effects for more complex reactions. Even a credit card becomes a conditioned cue that triggers greater spending, especially since it is a stimulus that is presented only in situations where consumers are spending money. People learn that they can make larger purchases when using credit cards, and they also have been found to leave larger tips than they do when using cash (Feinberg 1986).

THE COGNITIVE PERSPECTIVE

In contrast to behavioural theories of learning, the cognitive perspective stresses the role of information processing in consumer decision making. This perspective views people as problem solvers who actively use information from the world around them to master their environment. However, much debate surrounds the issue of whether or when people are actually aware of these learning processes. On the one hand, there is some evidence for the existence of unconscious procedural knowledge. That is, people apparently do process at least some information in an automatic, passive way, which is a condition that has been termed mindlessness (Langer 1983). Nonetheless, many modern theorists are beginning to regard some instances of conditioning as cognitive processes, especially where expectations are formed about the linkages between stimuli and responses. Studies using masking effects, wherein it is difficult for subjects to learn CS/UCS associations, show substantial reductions in conditioning (Allen and Madden 1985). The information processing theory (or cognitive theory) is central to the variety of hierarchy of effect models which, as Barry and Howard (1990, 121) explain, posit that consumers go through a "variety of stages, namely cognitive, affective, and conative, in responding to advertising, and other marketing messages". Accordingly, "the dominant pattern of relationship between the three stages is that cognition (thought) precedes both affect (feeling) and conation (behaviour)" (Marsden and Littler 1998, 7). The most widely accepted position that

opposes behaviourism is that thought and feeling can produce change in action directly. This is cognitivism; in its strongest form it suggests that attitudes control behaviour, and reinforcement only acts by changing attitudes. Overall, the implication for marketing strategy is that - "Consumers must be exposed to information [e.g., advertising] if it is to influence their behaviour" (Sternthal and Craig 1982, 314). In addition, the cognitive theories have been criticized for assuming that individuals are complex information processing entities. Nevertheless, the problem solving perspective has tended to dominate the field of consumer research. And as discussed next, decision making models that have governed consumer theory, are in fact based on the fundamentals of the cognitive principle.

CONSUMER DECISION MAKING MODELS

The three major „comprehensive" models for consumer decision making were proposed by Nicosia 1966; Engel et al. 1968; and Howard and Sheth 1969. These attempt to trace the psychological state of individual consumers from the point at which they become aware of the possibility of satisfying a material need by purchasing and consuming a product to their final evaluation of the consequences of having done so. Engel et al., (1986) suggest that high involvement with a product results in an extended problem solving process which starts with problem recognition, followed by an information search, alternative evaluation, purchase, and post purchase activities. This process is aided by an active information processing sequence involving exposure, attention, comprehension, yielding/acceptance, and retention. The choice determined by the outcome of the information process-aided decision sequence may have satisfying or dissonant outcomes: Festinger (1957) first introduced the theory of cognitive dissonance for the consumer, which influence future purchasing. Engel and Blackwell (1982) also point out that environmental influences may affect the decision sequence acting on the consumer's motivation and intention, and that unpredictable factors (such as non-availability of the desired brand or insufficient funds) may result in modification of the actual choice made by a consumer. This model assumes that observed consumer behaviour is preceded by intrapersonal psychological states and events (attitude intention-purchase sequence). Moreover, the model depicts these psychological events as outputs of the processing of information, taking for granted that consumers seek and use information as part of their rational problem solving and decision making processes.

THE PERSONALITY PERSPECTIVE

As noted above, some purchases have more personal relevance than others. While this partly reflects on factors such as price, it also bears on the way in which some products enhance the consumer's self concept i.e., possessions are considered to reflect on a consumer's image of him or herself. Mead (1934) used the role concept in his explanation of the social and individual nature of persons. The dramaturgical perspective on consumer behaviour views people much like actors who play different roles (Goffman 1959). Goffman (1959) introduced the concept a „managed situation", the idea that people manage the impression that others have of them by the way they present themselves. In the presence of others, the actor is seen to organize his activity in order to express an impression that he wishes to convey. The object of the study of role theory is to increase understanding of role enactment of individuals in social settings, so as to understand and predict behaviour. Marketing's interest in the study of personality derives from the possibility that, in spite their uniqueness as individuals, members of groups and aggregates may possess a given trait or type in common with each other e.g., extraversion (Eysenck and Eysenck 1975); such groupings (typologies) might then become the basis of separate market segments and justify special marketing action.

Personality in general is understood as a concept which accounts for the apparent consistencies and regularities of behaviour over time and across a variety of situations (Pervin 1984). As such, personality constructs explain those aspects of behaviour which are relatively stable across situations and, as a result, are predictive of future behaviour. Personality has also been understood as the „unique way in which traits, attitudes, aptitudes, etc. are organized in an individual" (Marx and

Hillix 1979) and this draws attention to the ways in which individuals differ from one another through the peculiar configuration of traits and other characteristics each possesses. While individuals might not always be uniform and predictable in their patterns of choice in different situations, it might be possible to make sense of and to forecast the general reactions of broadly defined groups and classes of purchasers. As discussed next, it is this concept of consumer general behavioural response patterns that forms the basis for marketing's personality based segmentation strategies.

THE POSITIVIST ERSPECTIVE

The traditional positivist approach is established on the premise that consumers are largely rational, stable, and knowable entities. The positivist philosophical stance is characterized by an emphasis on scientific observation and testing. The objective of this type of research is therefore, to observe empirical facts and to establish generalizable laws that can used to predict and control behaviour. The outcome of the positivist pursuit is directed toward advancing the overall goals of marketing practice. The positivist perspective therefore assumes that a single reality exists; events in the world can be objectively measured; and the causes of behaviour can be identified, manipulated, and predicted. Thus, the basis of the traditional perspectives is that consumer behavior is controlled by forces which operate largely beyond the control of consumers themselves (Anderson 1983). Accordingly, change is not something which consumers do for themselves, rather it is a result of something that is done to them by some internal (e.g., trait) or external (environmental) force over which they have little or no control (O"Shaughnessy 1985). For example, the behavioural perspective suggests that consumer behaviour is largely determined, or conditioned, by external environmental stimuli (Bagozzi 1980). This static nature of consumer behaviour, is further reinforced by the assumption that consumers are "motivated primarily or exclusively to reduce tensions and maintain an internal state of equilibrium" (Hjelle and Ziegler 1992, 19). It is assumed therefore, that consumers strive to maintain stability. As Firat et al. (1995, 43-44) observe - "Consumer behaviour theories believe in consistency and orderliness of consumer behaviour…Thus, the general assumption has been that if and when informed about such characteristics of the consumer [cognitive responses, conditioned responses, personality traits etc.], some meaningful prediction of their actions can be achieved". The traditional perspectives therefore, assume a highly "reactive" or passive consumer. For instance, the behavioural perspective assumes that consumers lack a conscious self reflective ability and as a result can be totally controlled and manipulated by marketers through environmental engineering (Foxall 1997; Hudson and Murray 1986; Rose et al. 1990). Finally, the adoption of the traditional-positivist approach, the dominant paradigm in consumer research, has proved quintessential to the creation of applied consumer knowledge and accordingly the evolution of marketing practice. The more recent non-positivist perspectives, however, aim to redress some of the criticisms of the traditional approaches, as discussed next.

CONCLUSION : Conditions of competition are changing rapidly today and companies that strategize and react to these changes promptly and quickly are the most successful. Due to technological developments, physical differences of products have decreased. Differentiation should be made on the meanings products bear instead of on their physical features. A successful brand differentiation can be possible by building personality. Thanks to brand personality, consumer sees brand as friend since it provides him with emotional benefits.

Overall, it is argued that the study of consumer behaviour is rapidly evolving as researchers recognize and implement new techniques and transdisciplinary perspectives to understand the nature of purchase and consumption behaviour. This wider view attempts to study consumer behaviour in the light of rapidly evolving lifestyles, values, priorities, and social contexts. Various theories on consumer research were not tested empirically until the middle twentieth century. The distinctly practical emphasis awaited development of the field of marketing in the business curriculum. In particular the buying process of consumer behaviour is of more importance to marketing practitioners than the consumption process. However, the arena of consumer research goes far

beyond the managerial perspective, when primary focus is placed on consumption. Holbrook and Hirschman (1982), among others, strongly advocate that the purchase decision is only a small component in the constellation of events involved in the consumption experience. Holbrook (1987) suggests that consumer researchers must expand their view to examine "all facets of the value potentially provided when some living organism acquires, uses, or disposes of any product that might achieve a goal, fulfill a need, or satisfy a want." The decision process then assumes secondary importance as compared with consumption. This broadened perspective has been recently reflected in the literature, as published research focuses on the subjective aspects of the consumption experience, such as hedonic consumption. Research methodology moves beyond positivism to naturalism (ethnography, semiotics, literary criticism, and historicism) in order to achieve a broader understanding of the impact of consumption on the consumer without any particular intent to change or influence the process. While some outcomes may be significant to marketing practice the overall goal of such research endeavour is to achieve better understanding of consumer behaviour.

REFERENCES

[1] Moneesha Pachauri, Nottingham University Business School, Jubilee Campus, Wollaton Road, Nottingham,The Marketing Review, 2002, 2, 319-355, ISSN 1472-1384/2002/0300319.

[2] Ajzen, I. and Fishbein, M. (1977), "Attitude-Behaviour Relations: A Theoretical Analysis and Review of Empirical Research" Psychological Bulletin **84**, September, pp. 888-918. In Solomon, M.R. 1995, Consumer Behaviour, 3rd ed., Prentice Hall.

[3] Alba, J.W. and Hutchinson, J.W. (1988), "Dimensions of Consumer Expertise", Journal of Consumer Research, **13,** March, pp. 411-454.

[4] Allen, C.T. and Madden, T.J. (1985), "A Closer Look at Classical Conditioning", Journal of Consumer Research, **12,** December, pp. 301- 315.

[5] AMA Task Force on the Development of Marketing Thought (1988), "Developing, disseminating, and utilizing marketing knowledge", Journal of Marketing, **52**, pp. 1-25.

[6] Anderson, P.F. (1983), "Marketing, scientific progress and scientific method", Journal of Marketing, **47**, pp. 18-31.

[7] Anderson, P.F. (1986), "On method in consumer research: a critical relativist perspective", Journal of Consumer Research, Vol. **13**, September, pp. 155-173.

[8] Bagozzi, R. P. (1975), "Marketing as exchange", Journal of Marketing, No. **39**, pp. 32-39

[9] D. and Littler, D. (1998), "Positioning Alternative Perspectives of Consumer Behaviour", Journal of Marketing Management, **14**, pp. 3-28.

[10] Belk, R.W. (1974), "An Exploratory Assessment of Situational Effects in Buyer Behaviour", Journal of Marketing Research, **11**, May, pp. 156-163.

[11] Belk, R. W. (1988), "Possessions and the Extended Self", Journal of Consumer Research, **15**, September, pp. 139-168.

Self reflections of social intelligence

Smt. Shilpi Naval Paul
Researcher Rani Durgavati Vishwavidyalaya, Jabalpur (M.P.)

INTRODUCTION: "Man is social animal". This is an early saying of our ancistors; even this statement reveals that man is mainly dependent on his society. Thorndikd Defines, "social intelligence as theability to understand others and act wisely in human relations. It is human capacity to understand what is happening in the word and responding to that understanding in a personality and socially effective manner". The level of intelligence differs among individuals.There are many factores affecting intelligence level as external and internet factors. Social intelligence has two constituents which are distinctly personal and social in nature, one is intrapersonal intelligence and other is interpersonal intelligence. Interpersonal intelligenceis the persons ability to gain access no his or her own internal emotional life while interpersonal intelligence is the individuals ability to notice and make distinctions among other individuals. Generally, intelligence is condisered to be the power to think, understand learn and decide. However, intelligence is much more than it. According to ancient Indian Philosopher. The inner self of man has three parts - Mind, Intelligence and Ego. Due to coordination of the mind, the external sence become active and due to it, the intelligence become active. Social means to relating to human society and its members, 'social institutions', 'societal evolution', 'societal forces', 'social legislation'. It is living together or enjoying life incommemitier or organized groups, 'mature social behaviour'. It is relating to or belonging to or characteristic of high tened, 'a social gossip colume', 'the society page'. It is composed of sociable people or formed for the purpose of sociality, a purely social club.

In the late 1950's David Wechsler defined 'social intelligence is just general intelligence, applied to social situtions'. In this view abstract or general intelligence enters into social intelligence. The old concept of social intelligence as purely cognisive as assums as many early theorists claimed that social intelligence may be diffrent from general intelligence. The old view saw social intelligence as the application of general intelligence. To social situations a largely cognitive aptitude. But when ordinary people were asked to list what make a person intelligent, social competence emerged as permanent natural category. But psychologist emphssis were an verbal and problem solving skills but new concept of social intelligence defines it interpersonal talent. Gordner (1983) desceibes interpersonal intelligence as empathy, on the awareness and appraisal of the subiective feelingevoke in one self by others as well as the awarenessand aprsisal of non verbal expressions of other. Social intelligence is the key element which make people succeed in life. Social intelligence is the capacity of the individual to intract effectively with his environment. The interpersonal relation in various work environment is it self reflections of social intelligence. Social intelligence is most similar to other intelligence in that adaptability and functionality of an individuals cognitions are stressed in the current social environment. In this construction little impotance is given to the pruption and intelligence of emotional information. In the 1990's as the localizations of emotions in the brain become better understood. Together with cognitive intelligence, emotional and social intelligence form important components of general intelligence. One of the major difference between the two is that former is related primerly to higher order mental processes like reasoning, while the latter focuses more on perceiving, immediate processing and applying emotional and social context, information and knowledge. It has been also suggested that another fundamental difference between the two may be that cognitive intelligence is strategic in nature, while emotional and social intelligence is more cimtrically tactical for immediate behavior suited more for survival and adaption (Gloman 1993, Baron 1997, Stein and Book ,2009).

Some of the uncivil behaviour can be inadvertently facilitied by the instruction's behaviour or the course structures. SO wemade a possible strategies –

1. Define expectations at the outset. Explicity letting students know how you want them to behave in class avaids incivilities due to mismatched expectations.
2. Decrease anonymity especially in large classes, student can sometimes engage in throughtless behaviours because the atmospheres feels very despersonalized.
3. Seek feedback fromstudents :- same students Incuilities are due to perceived instructor inciuilities – structor's own lateness disorganization, redenessor interruptions when students are speaking. Seek feedback to double check students perceptionsof you.
4. Encourage active learning – meaningful engagement haS obvious benefits for student learning and performance, but it can also bring some side benefits with respect to student behaviour in the classroom. In fact : students feel more responsible for coming to class and coming prepared erceive they pay more attention in class. Feel more responsible for their own learning.

The present research work is an attremt to find out whether there is any relationship among social values and discipline behaviour of higher secondary school student in relation to social intelligence.

The result will go long way to help in knowing the intelligence level, educational, vocational and career guidance of higher secondary school students.

SAMPLE : In present research researcher used stratified sampling in initial sample used –

Table No. - 1
Initial Sample

Boys	Girls	Total
1000	1000	2000

After the administration of the social intelligence test scoring and find out the high and low levels of social intelligence of the higher secondary school students in Jabalpur district.

Approximately, 600 students of high level of social intelligence and 600 students of low intelligence have been selected or final sample from the initial sample or shown below 0

Table No - 2
Final Sample

Social Intelligence	Higher Secondary School Students		Total
	Boys	Girls	
High	300	300	600
Low	300	300	600
600	600	600	1200

TOOLS USED IN RESEARCH : Tools used for Present Research are :-

In present study the researcher used three test papers as a tools –

1. Social intelligence scale – by S, Mathur
2. Social value test – by anupi Samaiya
3. Disciplined behaviour scale – by Aditi Shukla

PROCEDURE - The researcher used the experimental method for the purpose of the present study.

A list of higher secondary school area of Jabalpur distt. Was collected from DEO office Jabalpur and randomly selected. Private and govt. higher secondary schools of each block of Jabalpur disst. than. 1000 boys and 1000 girls of private and govt. schools given social intelligence scale and after filling collected the cale and scoring was done according to the scoring key given in the manual. The research done stratified sampling and select 1200 student and social value test and discipline behaviour scale was given ti the student and after filling collect the sale and test paper and scoring was done according to key given in the manual. The data was analysed using statistical method and verification of hypothesis was done on the basis of result conclusion were drawn and further suggestion were given.

SRF National & International Research Journal & Book Publication House, 320, Sewa path, Sangeevni Nagar, Garha, Jabalpur (M.P.)
Email Id:ijssmsjbp@gmail.com, srfjbp@gmail.com, www.srfresearchjournal.comPhone- 0761-4036611, Mo. 9993332299

STATISTICAL TECHNIQUES :

The following statistical techniques were used for analysis of data for present study – Mean, standard Devistion, Critical Ratio, ANOVA, Chi Square Test and Corelation.

ANALYSIS AND INTERPRETATION OF RESULTS

Table - 3

Result of social value of boys of high and low Social Intelligence

Social Intelligence	High	Average	Low	X^2	'P' Value	X^2	'P' Value
High	109	48	18	73.73	<0.01	0.03	>0.05
Low	155	61	20	121.79	<0.01		

Degree of freedam – 2 Minimum value of 0.05–5.99

Minimum value of 0.01–9.2

CONCLUSIONS :

1. There is no significant difference in high and low social intelligence boys on their social value of govt. higher secondary school. Since the value of CR is 1.28, which is lower than 1.97 the minimum value for significance at 0.05 level.
2. There is no signification difference in high and low social intelligence boys on their social value of private higher secondary school since the value of C.R. is .32 which is lower than 1.97 the minimum value for signification at 0.05 level.
3. There is no significant difference of high and low social intelligence boys ont heir social value of higher secondary school. Since thr value of chi square is 0.63 C.R. is 1.16 and Anova is lower than 5.99, 1.97 and 2.62, the minimum value for significance at 0.05 lvel.

   (Refer Table No.4.03, 4.12 and 4.13)

4. There is significant difference in high social intelligence girls on their social value of higher secondary school in Jabalpur district. Since the value of chi square is 366.41, which is higher than 9.21 the minimum value for significance at 0.01 level.
5. There is statistically significance in low social intelligence gorls on their social value of higher secondary school in Jabalpur district. Since the value of chi square is 155.79, which is higher than 9.21 the minimum value for significance at 0.01 level
6. There is no significance difference high and low social intelligence girls on their social value of govt. higher secondary school in Jabalpur district. Since the value of C.R. is 2.46, which is lower than 1.97 the minimum value for significance at 0.05 level.
7. There is statistically significance difference is high and low social intelligence girls on there private higher secondary school in Jabalpur district since the value of C.R. is 2.46, which is higher than 1.97 the minimum value for significance at 0.05 level.
8. There is partially significant difference in high and low social intelligence girls on there social value of higher secondary school in Jabalpur district. Since the value of chi square is 2.76, C.R. is 2.10 and Anova is 5.07, which is lower than 5.99 and higher than 1.97 and 2.62 the minimum value for significant at 0.05 level.

झारिया जाति का भातिक विवरण

डॉ. प्रीती पांडे, जबलपुर

डिण्डौरी जिले के सभी 7 विकासखण्डों जैसे, डिण्डौरी, अमरपुर, समनापुर, बजाग, शहपुरा, करंजिया, एवं मेहरवानी में झारिया समुदाय (मेहरा जाति) निवास करती हैं। अध्ययन के दौरान झारिया समुदाय (मेहरा जाति) के सदस्यों द्वारा दी गई जानकारी अनुसार जिले के शहरी क्षेत्रों के अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक संख्या में निवास करते हैं।

झारिया (मेहरा जाति) मध्य भारत की प्रमुख अनुसूचित जातियों में गिनी जाती है। यह मध्यवर्ती सतपुड़ा की पहाड़ियेां पठारी व घाटियों के निर्जन, सघन वनों से आच्छादित, उच्चावच वाले क्षेत्रों में अधिकांश झारियां जाति समूहों में निवास करती है। यह प्रान्त उत्तरी–दक्षिणी और दक्षिण–पूर्वी मैदानों में विभक्त है। नर्मदा और उसकी सहायक धाराएं पश्चिम की और प्रवाहित होती है। तथा वेनगंगा नदी की सहायक धाराएं निकलकर इसमें समाहित होकर दक्षिण की और गोदावरी में मिलती है। इस उच्च भू–भाग की सीमाएं मंडला, बिलासपुर, बालाघाट, शहडोल, राजनांदगांव, उमरिया, एवं डिण्डौरी प्रशासनिक जिलों से बनती है।

अनुसूचित जातियों के धार्मिक अनुष्ठान, ओझा व वैद्य आदि के कार्य करता है। झारिया समूह आज भी सभ्यता की पिछड़ी अवस्था में है। इसके अधिकांश पिछड़े हुए समूह प्राकृतिक वातावरण में कैद निवास स्थानों पर अपने पूर्वजों के अनुरूप ही जीवन व्यतीत कर रहे है। इन्हें अपने आसपास घटित होने वाली विश्वव्यापी घटनाओं का शून्य मात्र का भी आभास नहीं होता है। ये अपने उदर पूर्ति के लिए जीने के लिये संघर्ष ''ध्येय पर विश्वास करते है।

मध्यप्रदेश के विभिन्न अंचलों में अनुसूचित जातियों आदिम युग से अभी तक यहां रहते चले आ रहे है। किन्तु वह अभी भी बुनियादी सुविधाओं के अभाव में अपना जीवन व्यतीत कर रहे है।

आज जबकि इक्कीसवीं सदी की अत्याधिक विकसित आधुनिक विचारधारा और विभिन्न प्रकार की भौतिक सुख'–सुविधाओं से ग्राम और नगर सुसज्जित हो रहे है तो आम आदमी के सामाजिक एवं आर्थिक कल्याण के लिए प्रतिबद्ध म.प्र. शासन इन जातियेां की भलाई के लिए इस संबंध में बेहद प्रयासरत है तथा उत्सुकता के साथ इनकी तरक्की हेतु विशेष प्रयास किये जा रहे है। इस दृष्टि से जहां एक और विकास योजनाओं द्वारा क्षेत्र के अंतर्गत विभिन्न योजनाओं में प्रचुर धनराशि का विनियोजन किया गया है तो दूसरी और इनकी जीवन–शैली को तनिक भी आघात नहीं पहंचाते हुए उनके सामाजिक एवं आर्थिक विकास का रास्ता सुनिश्चित किये जाने का प्रयास किया जा रहा है तथा इस हेतु सभी बुनियादी साधन–सुविधायें उन्हें आसानी से सुलभ हों, ऐसे प्रयास किए जा रहे है।

विकास की अवधारणा :

विकास का तात्पर्य है परिवर्तन अर्थात् रूपांतरण। विकास मनुष्य के सतत् परिवर्तन की बहुआयामी प्रक्रिया है जिसमें समस्त सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक पद्धतियों के पुर्नगठन एवं नवीनीकरण का समावेश होता है। विकास का संकुचित अर्थ परिवर्तन या रूपांतरण से है। यह वृद्धि ये संबंधित है, तो पहले से ही किसी वस्तु से सुशुप्त अवस्था में विद्यमान होता है। विकास से तात्पर्य किसी समाज के विकास की प्रगति की प्राप्ति से है। विकास में मानव जीवन के सभी पहुलओं आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, पर्यावरण, तकनीकी इत्यादि को शामिल किया जाता है। विकास का उद्देश्य मानव जीवन सर्वागीण विकास करना है। विकास वह प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत केाई प्रणाली या संस्था अधिक सुदृढ़ विशाल, व्यवस्थित कार्यकुशल, प्रभावशाली तथा संतोषजनक रूपधारण लेती है।

एडवर्ड वाइडनर को गतिशील परिवर्तन के रूप में देखा है जो सदैव चलता रहता है। उन्होंने विकास को मन की स्थिति, प्रवृत्ति और एक दिशा में देखा है जो बजाय एक निश्चित लक्ष्य के एक विशिष्ट दिशा में परिवर्तन की गति है। कोलम और गेजर की मान्यता में विकास मात्रात्मक तथा गुणात्मक दोनों प्रकार का है तथा इसमें परिवर्तन के साथ साथ प्रगति भी है।

गांधी जी के शब्दों में विकास का तात्पर्य मानवता की और विकास प्रक्रिया को प्रोत्साहन देना है ना कि इसे विपरीत दिशा में चलाना या इसकी गति को धीमा करना।

विकास का आशय सभी जातियों के समग्र भौगौलिक, सामाजिक, व आर्थिक विकास से है। एक ऐसा समुदाय, जो निश्चित संख्या में ग्रामीण क्षेत्र में रहता है, गांव कहलाता है, जनजातीय समुदाय भी गांवों में निवास करता है। इस प्रकार ''ग्रामीण विकास वह व्यूह रचना है जिसमें ग्रामीण क्षेत्र में मानवीय एवं भौतिक संसाधनों का अधिकतम उपयोग करके गांवों का सर्वागीण विकास किया जाता है।

पी.सी माथुर के अनुसार ''ग्रामीण'' एक प्रकार की गुणवत्ता अथवा एक प्रकार की संस्कृति है जबकि ''विकास'' एक प्रक्रिया है जिसके विभिन्न बदलते आयाम अलग से चिन्हित किये जा सकते हैं एवं इसके आर्थिक प्रयास अंतर्विषयात्मक योग्य हो सकते हैं। विश्व बैंक की रिर्पोट में भी ग्रामीण विकास का मूल अर्थ ग्रामीण जनसंख्या के निम्न आय समूह के लोगों के जीवन स्तर में सुधार करना है।

इस प्रकार ग्रामीण विकास एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया है जिसके माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों के लागों की आय स्तर को उच्च कर जीवन स्तर में सुधार करना तथा उनके आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक व्यहार में मात्रात्मक व गुणात्मक परिवर्तन लाना है।

भारत के लगभग 6 लाख गांवों में 75 प्रतिशत आबादी गांवों में निवास करती है। इसीलिए यह माना गया है कि ग्रामीण समस्याओं का हल किया जा सके। तथा ग्रामीण क्षेत्रों का समग्र विकास हो सके तो हमारे देश की अधिकाधिक समस्याएं स्वयं हल हो जायेंगी। ग्रामीण विकास का अर्थ लोगों को होने वाले आर्थिक लाभों के साथ–साथ समाज के संपूर्णक ढांचे में होने वाले अधिकाधिक परिवर्तन से लगाया जाता है। विभिन्न विचारक ग्रामीण विकास को अपने अपने ढंग व दृष्टिकोण से परिभाषित करते है।

विश्व बैंक के ग्रामीण विकास क्षेत्र नीतिपत्र, 1975 के अनुसार ''ग्रामीण विकास ग्रामीण निर्धनों के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन के सुधारने हेतु बनाई गई व्यूह रचना है, जिसके अंतर्गत छोटे कृषकों, काश्तकारों एवं भूमिहीन कृषकों के समूह को शामिल किया जाता है।

भारतीय विद्वान जी पार्थसारणी के शब्दों में ''ग्रामीण विकास से आशय गरीबों के प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधनों के अनुकूलतम उपयोग से उनके जीवन स्तर में सुधार करने से है। इसके लिए पूंजी एवं तकनीक का अच्छा उपयोग एवं गरीबों की सक्रिय भागीदारी आवश्यक है।

एल. डब्लयू आकर देशमण्ड के अनुसार ''विकास प्रक्रिया ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि वानिकी मछली पालन ग्रामीण उद्योग एंव हस्तकरघा जैसी सामाजिक एवं आर्थिक विकास गतिविधियों में उपलब्ध प्राकृतिक एंव मानवीय संसाधनों का ग्रामीण जनता की आय बढ़ाने गरीबों का जीवन स्तर सुधारने तथा विकास में उनकी सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित की व्यूह रचना नीतियों एवं कार्यक्रम का समनवय है।

ग्रामीण विकास क्षेत्र तथा लोगों का स्थानीय संसाधनों एवं विकास का अधिकतम उपयोग करने का समग्र प्रयास है, जिसके अंतर्गत ने केवल आर्थिक क्षेत्र से संबंधित क्रियाकलापों को शामिल किया जाता है बल्कि सामाजिक संरचना का विकास करके ग्रामीण निर्धन एवं ग्रामीण दुर्बल लोगों के जीवन के गुणात्मक सुधार लाना भी है। इन क्षेत्रों में विकास की दर को आकांक्षाओं के अनुरूप कर पाने में पूरी तरह सफलता नहीं मिली फिर ग्रामीण क्षेत्रों में संरचनात्मक परिवर्तन आया है। गांवों में स्कूल, सडकों, बिजली, पानी, मकान जैसी मूलभूत आवश्यक सुविधाओं को काफी मात्रा में पहुंचाने में सफलता प्राप्त की है। विभिन्न रोजगारपरक कार्यक्रमों को चलाकर वहां के बेरोजगार युवाओं को स्वरोजगार के लिए आवश्यक व्यवस्थाओं और सुविधाओं को विकसित करने के प्रयास भी किए हैं। इतना सब होने पर भी ग्रामीण विकास का आदर्श लक्ष्य अभी प्राप्त नहीं हो सका है। इसके बहुआयामी कारण है।

झारिया समाज का सामाजिक–आर्थिक और सांस्कृतिक परिवेश बाह्य समाज से कुछ भिन्न है। भारतीय अनुसूचित जातियों की सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था संक्रमणकालीन स्थिति में है। इस संदर्भ में अनुसूचित जातियों के परम्परागत सामाजिक मूल्य, प्रतिमान, संगठनों की शक्ति संरचना तथा शिक्षा के विविधि आयाम परिवर्तन हो रहे है। इन अवधारणाओं के मूल संयोजक कारकों का विश्लेषण भौगोलिक के संदर्भ में अनिवार्य है। इन भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों के पारिवारिक–सामाजिक स्वरूप शिक्षा की दशाओं, व्यावसायिक प्रस्थिति, आय के साधन आदि शोध अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

विगत कुछ वर्षो से भारतीय अनुसूचित जातियों में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए है। एक और विकास आयोजकों के द्वारा इनके सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा शैक्षिक जीवन में शीघ्रता से परिवर्तन

लाने का प्रयास किया जा रहा है तो दूसरी और संपर्क संचार प्रोद्योगिकी एवं शिक्षा विकास के परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन, रहन–सहन के स्तर, विचार दृष्टिकोणों आदि में स्वतः ही परिवर्तन हो रहे है। नियोजित एवं अनियोजित परिवर्तनों के इस प्रवाह में सामजस्य एवं असंतुलन संगठन एवं विघटन की प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर हो रही है। भारतीय अनुसूचित जातियों समुदाय जनरीतियों पर आधारित है। परंपरागत प्रचलित जनरीतियों में जब से विकास कार्यक्रम लागू हुआ है, महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे है। विकासशील समाज में मूल्य व्यवस्था की व्याख्या आधारभूत मूल्यों तथा साधन स्वरूप मूल्यों में अंतर स्थापित करके किया जाता है। आधारभूत मूल्य वे मूल्य हैं जो समय और परिस्थितियों के अनुसार बदलते नहीं हैं, वे समाज के मूल्य में ही निहित होते है। यथा हिंदू समाज में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष वे आधारभूत मूल्यक है जिनके अंतर्गत समाज का संपूर्ण क्रिया–कलाप चलता है और साधन स्वरूप मूल्य भी उन्हीं की पूर्ति के लिए होते रहते है।

सामाजिक परिवर्तन की तीव्र गति के साथ साथ अनुसूचित जातियों के समाज में आधारभूत मूल्यों में ग्राहता कम है। उनमें परिवर्तन की प्रक्रिया के प्रति विरोध है, क्यों कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था की संपूर्ण संरचना आधारभूत मूल्यों पर ही आधारित होती है। यदि इनमें परिवर्तन आया तो संपूर्ण सामाजिक संरचना विघटित हो जाएगी। अतः आधारभूत मूल्य व्यवस्था के अंतर्गत परिवर्तन ग्राह्क नहीं है।

विकासशील देशों में गरीबी की जड़े इतनी पहुंच गई है कि उन्हें उखाड़ने के लिए भारी प्रयत्न करना बहुत आवश्यक हो गया है इन देशों की लगभग चालीस प्रतिशत जनसंख्या बेहद गरीबी के चंगुल में है। भारत में 1991 के आंकड़ों कें अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों की 50.82 प्रतिशत तंथा शहरी क्षेत्रों की 38.19 प्रतिशत जनसंख्या यानि औसत 48.13 प्रतिशत जनसंख्या इस श्रेणी में आती है। इस जनसंख्या का अधिकांश जीवन,बीमारी, अशिक्षा तथा कुपोषण के कारण इतना पीड़ित है कि केवल जीवन–निर्वाह की मूलभूत आवश्यकताओं को बहुत कठिनाई से प्राप्त करते है। मानव अधिवास पर संयुक्त राष्ट्र की जून 1976 में हुई एक संगोष्ठी में यह सिफारिश की गई कि विकासशील देशों को चाहिए कि ग्रामीण क्षेत्रों के उत्थान के लिए जहां अधिकांश जनसंख्या बस्ती है, विशेष ध्यान दिया जाए। वर्ष 1980 में गांधी जयंती के अवसर पर देश के सभी विकासखण्डों में चलाया गया समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम इसी दिशा में उठाया गया एक महत्वपूर्ण प्रयास है इस कार्यक्रम से गांवों में समृद्धि लाने के महात्मा गांधी के स्वप्न को मूर्तरूप देने का प्रयास किया गया है। इस कार्यक्रम के अंतर्गत गांवों में गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहे परिवारों को उत्पादी परि–सम्पत्तियां उपलब्ध कराई जाती है और साथ ही उनमें आय में वृद्धि कर सकने की क्षमता पैदा की जाती है।

शैक्षिक विकास की अवधारणा :

शिक्षित होना हर व्यक्ति का जन्म सिद्ध अधिकार है लेकिन यह तभी संभव है जबकि इसकी पहुंच समाज के सबसे निचले तबके तक सुनिश्चित हो। शिक्षा पर किया गया व्यय अनुत्पादक नहीं बल्कि एक ऐसा दीर्घकालीन निवेश है, जिसके बल पर राष्ट्र की प्रगति संभव है। शिक्षा की उपयोगिता सामाजिक, भौगोलिक एवं आर्थिक भेदभाव के दृष्चक्र को तोड़कर अंततः समाज से अपने को आत्मसात करने में निहित है। शिक्षा मानव विकास का मूल साधन है। शिक्षा के जरिए मनुष्य के ज्ञान एवं कला–कौशल में वृद्धि करके उसके पैदाइशी गुणेां को निखारा जाता है और उसके व्यवहार को परिमार्जित किया जाता है। शिक्षा सही मायनों में व्यक्ति को परिमार्जित करती है। और उसके बृद्धि बल और विवेक को उत्कृष्टता प्रदान करती है। शिक्षा कें अभाव में मनुष्य का जीवन पशुवत प्रतीत होता है। आजादी के बाद से ही शिक्षा के लोकव्यापीकरण के लिए प्रयास किया जाता रहा है। संसद में तीन बार राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1969,1986,1992) के दस्तोवजों में 6–14 आयु समूह के सभी बच्चों को शिक्षा उपलब्ध कराने का संकल्प दोहराया गया है लेकिन आज भी देश के 6'14 आुयु समूह के 19.4 करोड़ बच्चों में से 6. 64 प्रतिशत बच्चें स्कूल से दूर है। स्कूल से विरत बच्चों में 68.3 प्रतिशत कभी स्कूल गये ही नहीं और 31.7 प्रतिशत बच्चे स्कूल में बने न रह सके।

शिक्षा के लोकव्यापीकरण अर्थात् पूर्ण साक्षरता के लक्ष्य को तभी हासिल किया जा सकता है। जबकि भारतवर्ष में रहने वाले सभी वर्गो को साक्षर किया जाये। भारत भौगोलिक एवं जनसंख्या की दृष्टि से एक विशाल देश है। इसमें भिन्न–भिन्न आर्थिक स्तर सामाजिक स्तर के लोग रहते है। भारत का एक बड़ा जनसमूह तो पहाड़ो और जंगलों में निवास करता है। भारत को पूर्ण साक्षर बनाने के लिए उन आर्थिक रूप से कमजोर एवं दुर्गम इलाकें में रहने वाले सामाजिक रूढ़िवादी की जंजीरो से जकड़े एक लम्बे समय से तिरस्कृत वर्ग को साक्षर बनाना होगा। वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जातियों की साक्षरता

47.1 प्रतिशत थी। भारत के कुछ बड़े राज्यों के अनुसूचित जातियें की साक्षरता दर निम्न तालिका में दी गई है

तालिका क्र.1
विभिन्न राज्यों में अनुसूचित जातियों की साक्षरता दर (2001)

क्र.	राज्य	कुल जनसंख्या की साक्षरता	अनुसूचित जाति की साक्षरता	अनुसूचित जनजाति की साक्षरता
1	आंध्रप्रदेश	60.47	53.52	37.04
2	असम	63.25	66.76	62.52
3	बिहार	47.0	28.47	28.17
4	छत्तीसगढ़	64.66	63.96	52.09
5	जम्मू और कश्मीर	55.52	59.03	37.46
6	झारखंड	53.56	37.56	40.67
7	कर्नाटक	66.64	52.87	48.27
8	केरल	90.86	82.66	64.35
9	मध्यप्रदेश	63.74	56.57	41.16
10	महाराष्ट्र	76.88	71.9	55.21
11	उड़ीसा	63.08	55.53	37.37
12	राजस्थान	60.41	52.24	44.66
13	उत्तरांचल	71.62	46.27	35.13
14	उत्तरप्रदेश	56.27	63.4	63.23
15	पश्चिमी बंगाल	68.64	59.04	43.4
16	भारत	64.84	54.69	47.1

ऑल इंडिया स्कूल एजूकेशन सर्वे, एनसीईआरटी के अनुसार 78.17 प्रतिशत बस्तियों में ही प्राथमिक विद्यालय की व्यवस्था है। आधे किलोमीटर की दूरी पर 6.69 प्रतिशत तथा एक किलोमीटर की दूरी पर कुल 94.17 प्रतिशत रिहायती बस्तियों में प्राथमिक विद्यालय है। अनुसूचित जनजाति की जनसंख्या वाली 69.84 प्रतिशत बस्तियों में प्राथमिक विद्यालय है। तथा आधे किलोमीटर की दूरी पर 7.01 प्रतिशत एवं एक किलोमीटर की दूरी पर 89.01 प्रतिशत बस्तियों में प्राथमिक विद्यालय है। प्रयासों एवं परिणामों पर नजर डाली जाए तो आज तक भी शत–प्रतिशत नामांकन सुनिश्चित नहीं हो पाया है। कमी प्रयास में नहीं है बल्कि कमी या तो उसके क्रियान्वयन में है या फिर उसके प्रति वांछित वर्गो की निष्क्रियता में है। कार्यक्रम/योजनाएं कागजों पर तो बेहद आकर्षक लगती है लेकिन जब इन्हें वास्तविक मैदान में चलना पड़ता है तो ये थके घोड़े के समान होती हुई लगती है। तिथियां निर्धारित होती है लेकिन उन निर्धारित तिथियों की सीमा में ये कार्यक्रम कभी सफल होते नजर नहीं आते। जरूरत केवल बड़ी–बड़ी महत्वाकांक्षी योजनायें बनाने की नहीं बल्कि इसे सही ढंग से लागू करने की भी है तभी हम पूर्ण साक्षरता के लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगे। और भारत के सभी वर्गो को जीवन की मुख्य धारा से जोड़ सकेंगे।

विकास के निर्धारकों का भौगोलिक अध्ययन :

अधिकांश जातियों पहाड़ों जंगलों और दूरवर्ती दुर्गम क्षेत्रों में निवास करती है, जहां उनका अन्य लोगों से संपर्क नहीं हो पाता। क्यों कि आवागमन के साधनों का अभाव है। अतः उन्हें जीवन–यापन के उचित अवसर उपलब्ध नहीं होते है, जिसके कारण उन्हें न तो रोजगार के अवसर मिलते है और न ही शिक्षा के उचित अवसर प्राप्त हो पाते है। जनजातीय क्षेत्रों में दुर्गम भौगोलिक परिस्थितियें के कारण वहां पर शैक्षिक योजनाओं को लागू करना दुष्कर कार्य है। आर्थिक रूप से अनुसूचित जातियों की स्थिति अत्यधिक सोचनीय थी, तो सामाजिक स्थिति भूमिकायें तथा भौगोलिक स्थिति उच्च कैसें हो सकती है ?

SRF National & International Research Journal & Book Publication House, 320, Sewa path, Sangeevni Nagar, Garha, Jabalpur (M.P.)
Email Id:ijssmsjbp@gmail.com, srfjbp@gmail.com, www.srfresearchjournal.comPhone- 0761-4036611, Mo. 9993332299

अनुसूचित जातियों का एक बड़ा वर्ग शहरों से दूर दुर्गम भौगोलिक परिस्थितियों में निवास करता है। गांवों में आज भी स्कूलों का अभाव सा है। पिछड़े इलाकों में तो कई गांव के बीच एक स्कूल है। अभिभावक अधिक दूर स्कूल होने के कारण प्रायः अपने बच्चों को स्कूल भेजने में हिचकते है। किन्हीं स्थानों में विद्यालय भी होते हैं और अनुसूचित जाति के लोग अपने बच्चों को विद्यालय भेजना शुरू कर देते है। तो भी उचित सुविधायें व माहौल नहीं जुटा पाते है, जिससे बच्चे कक्षा में असफल होने लगते है, जिससे अपव्यय होने लगता है और बार बार अवरोधन भी, जिससे क्षुब्ध होकर ये अपने बच्चों को रोक लेते हैं और उनकी शिक्षा अधूरी रह जाती है। (मध्यप्रदेश के औद्योगिक विकास का प्रादेशिक प्रतिरूप का मानचित्र क्र..–1)

भौतिक संरचना :

भौतिक संरचना की दृष्टि से डिण्डौरी जिला पठार तथा पहाड़ियों से घिरा हुआ है। इसके एक हिस्सें में नर्मदा, सोन तथा दूसरे हिस्से में सतपुड़ा–मैकल श्रेणी है। डिण्डौरी जिला पहाड़ी इलाकों से घिरा हुआ है यहां की भूमि भुरभुरी तथा पथरीली है। पठार समतल होते हुए भी ऊँचे पठार तथा निचले पठार में बंटा हुआ है। इसकी तहों की मोटाई अधिक संख्त एवं कठोरता के अनुरूप है। यहां की मिट्टी काली तथा भूरी चिकनी है जिसमें कंकड़ भी अधिक है। यह क्षेत्र समुद्री सतह से काफी ऊँचा होने के कारण जल की उपलब्धता की समस्या सर्वत्र नजर आती है। भूमि से 150–200 फीट नीचे पानी की उपलब्धता दृष्टिगोचर होती है जिससे कृषि कार्य प्रभावित होता हैं। (डिण्डौरी जिले का भौतिक उच्चावन का मानचित्र क्र.02)

डिण्डौरी जिला आदिवासी बाहुल्य क्षेत्र है जहां अधिकतर झारिया परिवार अपनी आवश्यताओं के अनुरूप फसलों का उत्पादन करते है। अनाजों में ज्वार, बाजरा, मक्का, राई, रमतिला, चावल, कुटकी, कोदो चना, आदि की खेती की जाती है। भूमि तथा मिट्टी अच्छी कृषि के अनुरूप नहीं है।

जलवायु :

डिण्डौरी जिलें में मानसून जलवायु की सभी विशेषतायें मिलती है। जाड़े तथा गर्मी दोनों ही ऋतुओं में वायुभार की रेखायें पूर्व से पश्चिम की ओर जाती है। गर्मी के दिनों में क्षेत्र का तापमान औसत तापमान से अधिक हो जाता है। परिणामस्वरूप पूरे क्षेत्र में जल की कमी हो जाती है।

मध्यभारत जलवायु उष्ण कटिबंधीय मानसूनी प्रकार की है। यहां लम्बें ग्रीष्म काल में अधिकतम तापक्रम रहता है। सामान्यतः 42.8^0 से तक रहता है किन्तु रात्रि कालीन तापमान कम होता है तथा रात्रि में इस प्रदेश में ठंडी होती है। इस समय तापमान अधिकतर 12^0 से और न्यूनतम 10^0 से तक रहता है। कभी–कभी इस ऋतु में कोहरे (धुंध) की स्थिति भी ठंडे महीनों में बन जाती है। शहडोल, उमरिया, बालाघाट, डिण्डौरी, मंडला जिले कुछ आर्दता लिए हुए है। शेष जिलों में अधिक गर्मी है। वर्षा मध्यम होती है, जो फसलों और वनस्पतियों के लिए पर्याप्त है। ऊपरी भागों में वर्षा की मात्रा 1307 मि.मी. ही प्रांप्त होती है तथा निचले भागों में 1569 मि.मी. वर्षा की मात्रा प्राप्त होती है। अधिकतर वर्षा मानसून के माह में प्राप्त होती है। इस प्रदेश के ऊपरी भाग में उत्तर भारतीय शुष्क उष्ण कटिबंधीय प्रकार की जलवायु पाई जाती है। जबकि दक्षिणी भागों में जहां मैकाल पहाड़ों की श्रृंखला और संबंधित पठार है, वहां पर उत्तर भारतीय आर्द उष्ण कटिबंधीय जलवायु पायी जाती है। इस प्रदेश के निचले भागों में तापमान ग्रीष्म ऋतु में भी ऊपरी भागों से कम ही रहते है, परंतु शीत ऋतु में तापमान 3.5^0 से तक पहुंचने के कारण थोड़ी ठंड अधिक होती है तथा कोहरे की स्थिति रहती है। इस भाग में वर्षा भी अधिक होती है, लगभग 1650 मि.मी. तक वर्षा मापी गई है।

अपवाह तंत्र :

मैकल पठार का अपवाह ''मैकल सूता'' (नर्मदा) नदी निर्मित करती है। इसके दाये तरफ बंजर, बूरहनेर, खामेर, एवं सहायक धाराएं तथा बाये तरफ सिलगी और गौर सहायक नदी प्रवाहित है। इस क्षेत्र में सोन और उसकी सहायक नदी और जोहिला नदी प्रवाहित हेाती है। जोहिला नदी ज्वालामुखी बेसिन में प्रवाहित होते हुए अपने उत्तर–पूर्व और उत्तरी भागों में अपवाह बनाती है। बेनगंगा और उसकी सहायक धाराएं अपने पश्चिमी भागों का अपवाह निर्मित करती है। नर्मदा की सहायक नदी टोडा वर्षा ऋतु में नर्मदा में जाकर मिलती है। महानदी की सहायक धाराएं सिओनाथ इस क्षेत्र के दक्षिणी–पूर्वी और दक्षिणी भागों को अपवाहित करती है। इन नदियेां ने अपनी घाटी को अपरदित करके उपजाऊ बेसिन का निर्माण किया है। जिससे कृषि के लिए उपजाऊ भूमि इन बेसिनों में उपलब्ध हो गई है।

वर्षा की प्रकृति मानसूनी है। अधिकतम वर्षा जून से सितम्बर के मध्य होती है तथा दिसंबर और जनवरी कुछ वर्षा चक्रवातों से होती है। अन्य माहों में

SRF National & International Research Journal & Book Publication House, 320, Sewa path, Sangeevni Nagar, Garha, Jabalpur (M.P.)
Email Id:ijssmsjbp@gmail.com, srfjbp@gmail.com, www.srfresearchjournal.comPhone- 0761-4036611, Mo. 9993332299

बहुत कम वर्षा होती है। यहां औसत वार्षिक वर्षा बहुत कम होती है जिससे कृषि कार्य प्रभावित होता है। मानसूनी वर्षा की विषमता यहां की सबसे गंभीर समस्या है। यह विषमता औसत वार्षिक वर्षा से कम होने के साथ बढ़ती जाती है। यहीं कारण है कि इस क्षेत्र में यदि किसी वर्ष वर्षा कम हई तो कृषि को अधिक हानि होती है और सूखा क्षेत्र घोषित करने की स्थिति निर्मित हो जाती है जिससे यहां का जनजीवन प्रभावित होता है। आर्थिक निर्भरता के लिए लोगों को क्षेत्र से पलायन करने की आवश्यकता पडती है। अत्यधिक वर्षा से कई गांव संपर्क से टूट जाते है। जिससे लोगों को भारी नुकसान का सामना करना पड़ता है। कच्चे मकान बह जाते है जानवर गंभीर बीमारी के शिकार होकर मर जाते है तथा अन्य संपत्तियों का भी नुकसान होता है।

मिट्टी :

वनस्पति और कृषि की प्रकृति को निर्धारित करने वाले कारकों में मिट्टी अत्यधिक महत्वपूर्ण है। उत्पादन की मात्रा तथा उत्तमता भी मिट्टी की प्रकृति पर निर्भर करते है। अतः भौगोलिक वर्णन में मिट्टी का विश्लेषण एक आवश्यक अंग है। डिण्डौरी जिला ऊँची–नीची सतहों तथा पहाड़ी भाग से जुड़ा होने के कारण वर्षा के दिनों मिट्टी के कटाव की समस्या खड़ी हो जाती है। इस क्षेत्र की मिट्टी काली, भुरभुरी, पीली, पथरीली, तथा जलोढ़ मिट्टी है। काली मिट्टी में लोहे और चने की प्रचुर मात्रा होती है। जो कृषि कार्य को प्रभावित करता है। यह मिट्टी तिलहन, ज्वार, चने की कृषि के लिए महत्वपूर्ण है। अधिकतम क्षेत्र में जलोढ़ तथा काली मिश्रित मिट्टी पाई जाती है जो कृषि उत्पादकता को प्रभावित करता है। समतल क्षेत्र के अभाव से अधिकतर मिट्टी की परते जल के साथ बह जाती हैं जिससे मिट्टी की उर्वरक क्षमता अपेक्षाकृत कम हो जाती है।

मृदा अपरदन :

जिले में मृदा अपरदन कृषि की गंभीर समस्या है जिसके कारण विस्तृत क्षेत्र में भमि नष्ट हो रही है। सतह की मिट्टी के महीन कण कटकर बह जाते है, केवल कंकरीली, पंथरीली, मिट्टी बची रहती है या मिट्टी की ऊपरी तह बह जाती है और नीचे की सतह ऊपर दिखने लगती है। इस प्रकार नष्ट हुई मिट्टी में कृषि के लिए पौष्टिक तत्वों की कमी हो जाती है फलस्वरूप उर्वरता और उत्पाद घटता जाता है। जिले की अधिकतर भमि पठारी और पहाड़ी है तथा ऊँची–ऊँची सतहों पर निर्भर है। जिस कारण मानसूनी वर्षा तथा त्रुटिपूर्ण उपयोग के संयोजन से मृदा अपरदन एक गंभीर समस्या बन गई है। यह क्षेत्र आदिवासी बाहुल्य क्षेत्र है। यहां के अधिकतर आदिवासी परिवार आर्थिक दृष्टि से कमजोर होने के कारण भूमि संबंधी कमियों का निदानात्मक उपाय करने में असमर्थ हैं जिससे उनकी आर्थिक दशा में कोई सुधार नहीं आया है।

जिले की मृदा काली से लाल रंग की चिकनी और लोयस के मिश्रण से युक्त है। प्रदेश के ऊपरी भाग मे हल्की काली रंग और निचले में हल्की काली से मध्यम काली रंग की मृदा मिलती है। मैकाल श्रृंखला और उससे जुड़े भागों में लाल, काली, और मिश्रित मृदा पाई जाती है। नर्मदा ओर बंजर बेसिन में मध्यम काली मृदा मिलती है। लैटराइट प्रकार की मृदा पहाड़ी भागों में विस्तृत रूप से पाई जाती है।

वर्तमान अध्ययन का वक्तव्य :

देश में विकास से संबंधित अनेक अध्ययन हो चुके है। किंतु दूरस्थ वीरान घने जंगलों तथा पहाड़ी क्षेत्र जैसे भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले लोगों के जीवन पर किये गए अध्ययन पर्याप्त नहीं है क्योकि आज भी अनुसूचित जाति अपने परंपरावादी जीवन शैली तथा रूढ़िवादी दृष्टिकोण के साथ जीवन व्यतीत कर रहे है। प्रस्तुत अध्ययन झारिया जाति के संदर्भ में है, जो मध्यप्रदेश के अनुसूचित जातियों में से एक है। अध्ययन क्षेत्र के रूप में डिण्डौरी जिले को लिया गया है। जहां सभी विकासखण्डों के गांवों में सबसे अधिक झारिया जाति के लोग रहते है। इसमें संदेह नहीं है कि दूसरे मानवीय समूहों की भाति झारिया जाति भी पिछड़े है। जिनके निवास स्थान ऐसे क्षेत्रों में है जहां पहुंचने में अनेक तरह की बाधाओं का सामना करना पड़ता है। उनके बीच आवागमन की असुविधा भी है। उनके बीच पेयजल की गंभीर समस्या व्याप्त है। आज भी कई गांव ऐसे है जहां पीने के पानी की समुचित व्यवस्था नहीं है। वहां के तालाब में संचित पानी का प्रयोग खाने–पीने के लिए करते है। उन्हें अनेक प्रकार के जनित रोगों का सामना करना पड़ रहा है। वे उत्पादन उपभोग के लिए करते है। उनके बीच बचत की धारणा प्रचलित नहीं है। जंगल के अधिग्रहण के कारण उनके सामने भुखमरी और कुपोषण की स्थिति उत्पन्न हो गई है। उनके लिए पुनर्वास की व्यवस्था भी नहीं की गई है।

अनुसूचित जाति में अशिक्षा व्याप्त है। अशिक्षा के कारण उनके बीच कई प्रकार की कुरीतियां प्रचलित है, उदाहरण के लिए डायन, ओझा, भूत–प्रेत, इत्यादि में

विश्वास। कई महिलाओं को डायन बतलाकर उन्हें प्रताड़ित किया जाता है तथा जान से भी मार डाला जाता है। बीमारी का इलाज डॉक्टर से न कराकर वे ओझा –गुणी के पास जाते है। ओझा–गुणी के द्वारा ही किसी महिला के बारे में डायन संबधी सूचना देकर समाज में तनाव पैदा कर दिया जाता है। अशिक्षित होने के कारण विकास योजनाओं में उनकी भागीदारी नहीं हो पाती है अथवा वे शोषित हो जाते है।